* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

वर्ष ५९

संख्या ७

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण १,६७,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण, श्रीकृष्ण-संवत् ५२११ जुलाई १९८५

चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य
भारतमें १.०० रु०
विदेशमें १० पेंस

जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य
भारतमें २४.०० रु०
विदेशमें ६०.०० रु०
(४ पौण्ड)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका

आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक—राधेश्याम खेमका

गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये जगदीशप्रसाद जालानद्वारा गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

व्याधकी क्षमाप्रार्थना

अजानता कृतमिदं पापेन मधुसूदन । क्षन्तुमर्हसि पापस्य उत्तमश्लोक मेऽनघ ॥

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते म्लेच्छान् मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥

वर्ष ५९ } गोरखपुर, सौर श्रावण, श्रीकृष्ण-संवत् ५२११, जुलाई १९८५ ई० { संख्या ७
पूर्ण संख्या ७०४

जरा व्याधकी क्षमा-याचना

रामनिर्याणमालोक्य भगवान् देवकीसुतः । निषसाद धरोपस्थे तूष्णीमासाद्य पिप्पलम् ॥
बिभ्रच्चतुर्भुजं रूपं भ्राजिष्णु प्रभया स्वया । दिशो वितिमिराः कुर्वन् विधूम इव पावकः ॥
कृत्वोरौ दक्षिणे पादमासीनं पङ्कजारुणम् । मृगास्याकारं तच्चरणं विव्याध मृगशङ्कया ॥
अजानता कृतमिदं पापेन मधुसूदन । क्षन्तुमर्हसि पापस्य उत्तमश्लोक मेऽनघ ॥
यस्यात्मयोगरचितं न विदुर्विरिञ्चो रुद्रादयोऽस्य तनयाः पतयो गिरां ये ।
त्वन्मायया पिहितदृष्टय एतदञ्जः किं तस्य ते वयमसद्गतयो गृणीमः ॥

'बलरामजीके महाप्रयाणको देख भगवान् कृष्ण चार भुजा धारणकर पिप्पलके नीचे पृथ्वीपर बैठ गये । वे अपनी प्रभासे दसों दिशाओंको प्रकाशित करते हुए बायीं जाँघपर दाहिना पैर रखकर आधे लेटे थे । जरा व्याधने उस आकृतिको मृग जानकर बाणसे बींध डाला । फिर स्थितिका भान होनेपर अनजानेमें हो गये पापके लिये क्षमा माँगी । उसने कहा—'ब्रह्मा-रुद्रादि भी आपकी मायाके विलासको नहीं जानते; फिर हमारे-जैसा पापयोनि आपके रहस्यको क्या समझे ।'

कल्याण

प्रभुको पहचाननेवाले भक्तके द्वारा पूजा कैसी होती है, यह हमें जानना चाहिये। संत एकनाथके जीवनकी एक घटना है, जिससे हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। उस समय भारतवर्षमें रेल नहीं थी। दक्षिण भारतसे उत्तरकी सीमा हिमालयकी गङ्गोत्तरीतक आना सहज काम नहीं था। हृदयमें प्रभुके दर्शन करते हुए संत एकनाथ गङ्गोत्तरी आये। वहाँके पुनीत जलको काँवरमें भरकर ले चले। काशी होते हुए रामेश्वरकी ओर जाने लगे। वहाँ जाकर उस जलसे वे प्रभुकी पूजा करना चाहते थे। धीरे-धीरे रामेश्वर निकट आने लगा; आते-आते अत्यन्त समीप आ गया। ग्रीष्म ऋतु थी। एक दिन दुपहरीकी जलती धूपमें एकनाथने रेतीले मैदानमें एक गधेको पड़े छटपटाते देखा। वे उसके निकट चले गये। देखा कि प्यासके उस असहाय पशुकी बुरी दशा हो रही है। नाथको अनुभव हुआ, मेरी पूजा स्वीकार करनेके लिये ही प्रभु यहीं पधार गये हैं। अविलम्ब उन्होंने काँवर उतारी और गङ्गोत्तरीका वह पुनीत जल गधेके मुखमें डालना आरम्भ किया। ठंढा जल पीनेसे उस मरणासन्न प्राणीमें प्राणोंका नवीन संचार हो आया। गधा उठा, एकनाथकी पूजा सम्पन्न हो गयी। वे उल्लासमें भर रहे थे, किंतु उनके अन्य साथी दुःख कर रहे थे कि 'हाय, इतने परिश्रमसे लाया हुआ गङ्गोत्तरीका जल व्यर्थ चला गया। रामेश्वर जाकर इससे प्रभुकी पूजा नहीं हो सकी। इस जीवनमें पुनः गङ्गोत्तरीसे जल लाकर पूजा हो सकेगी, यह तो सम्भव नहीं।' उनकी भावना देखकर एकनाथ हँसे। हँसकर बोले—'भाइयो! शरीरका पर्दा हटाकर देखो; फिर दीखेगा कि एकमात्र प्रभु ही सर्वत्र परिपूर्ण हैं। मेरी पूजा तो रामेश्वरके मन्दिरमें विराजित स्वयं प्रभुने यहींसे स्वीकार कर ली।'

अब कहीं हम भी संत एकनाथकी तरह विश्वके कण-कणमें विराजित प्रभुको पहचान सकते तो हमारी पूजा भी सर्वाङ्गीण पूजा बन जाती। हमारी आजकी जो यह दशा है कि पासकी नदीसे जल भरकर हम किसी मन्दिरमें प्रभुकी पूजा करने चलते हैं, मन्दिरसे कुछ दूरपर ही हमें एक ऐसा असहाय, उपेक्षित प्राणी—पशु नहीं, मनुष्य मिलता है, जिसके अन्तिम श्वास आ रहे हों, हमारी दृष्टि भी उसपर पड़ जाती है, पर हम उस ओरसे दृष्टि हटा लेते हैं, क्षणभरके लिये रुककर कौतूहलकी दृष्टिसे हम भले कुछ पूछ-ताछ कर लें, किंतु आखिर हमारा भी उस मरणासन्न व्यक्तिके प्रति कोई कर्तव्य है—यह भावना भी हमारे मनमें नहीं उद्दीप्त होती। अधिक-से-अधिक कुछ हुआ तो इतना कि करुणामिश्रित दो-चार शब्द मुँहसे उच्चारण कर लेते हैं और फिर मन्दिरमें पूजा करने चले जाते हैं! इतना भी नहीं करते कि अपने लोटेके जलकी कुछ बूँदें उस मुमूर्षुके सूखते हुए कण्ठमें तो डाल दें—हमारा ऐसा व्यवहार प्रभुको पहचाननेपर कदापि नहीं होता। फिर तो हमें भी यह दीखता कि मन्दिरके देवता हमारी पूजा ग्रहण करनेके लिये यहाँ इस रूपमें प्रकट हो गये हैं तथा उस समय केवल जल ही नहीं, हमारे पास जो कुछ भी साधन प्राप्त हैं, हमारे द्वारा जो कुछ भी होना सम्भव है, उन सबका पूर्ण उपयोग करते हुए पूरी तत्परतासे हम उस रूपमें विराजित प्रभुकी पूजामें ही जुट पड़ते।

—'शिव'

भगवत्-ज्योतिका प्रकाश (२)

मानवजीवन ही ऐसा है, जिसे विशिष्ट विवेक प्राप्त है। इस विवेकका उपयोगकर हम प्रभुके आलोकका दर्शन पा सकते हैं। इस प्रकार अपने जीवनको सार्थक बनानेके लिये निम्नलिखित बातें हमें जीवनमें अपनानी चाहिये।

पहली बात तो यह है कि भगवान्की सत्तामें, उनकी अनन्त सामर्थ्यमें, उनके अनन्त दिव्य गुणोंमें हमारी अचल-अडिग श्रद्धा हो। भगवान् अवश्य हैं, वे सब कुछ करनेमें समर्थ हैं, वे करुणासिन्धु हैं, प्रेमसमुद्र हैं, सौन्दर्य-सागर हैं, उनमें सत्य, क्षमा, शुचिता, कृतज्ञता, दक्षता, स्थिरता, सहिष्णुता, गम्भीरता, समता, मङ्गलमयता, प्रेमवश्यता आदि अगणित अनन्त सद्गुण अपरिसीम मात्रामें नित्य वर्तमान रहते हैं। एक क्षुद्र दर्पणद्वारा सम्पूर्ण आकाशका प्रतिबिम्ब ग्रहण जैसे असम्भव है, वैसे ही प्रभुके अस्तित्वकी, उनके अनन्त अपरिसीम सौन्दर्य-माधुर्य आदि सद्गुणोंकी पूरी-पूरी कल्पना हमारे क्षुद्र मन-बुद्धिमें समा ही नहीं सकती—इस बातपर हमारा दृढ़ विश्वास हो। हमारे इस विश्वासको संशयकी छाया कभी छूने न पावे। किंतु हम इसे अपना दुर्भाग्य कहें या अन्य कुछ? हमारे अंदर प्रभुपर विश्वास ही नहीं है। हममेंसे हजारोंमें एक व्यक्ति भी कठिनतासे मिलेगा, जो सचमुच भगवान्में विश्वास रखता हो। हम पापपर विश्वास कर लेते हैं, किसी मनुष्यपर अथवा अपने पुरुषार्थ (अहंकार) पर हमारा भरोसा हो जाता है, पर प्रभुपर नहीं! हम सोचते हैं—हमारा अमुक कार्य है, इसमें इतना झूठ तो हमें बोलना ही पड़ेगा, बिना झूठ बोले काम होनेका ही नहीं, दूसरे शब्दोंमें झूठ (पाप) पर हमारा विश्वास है कि झूठ हमारा काम कर देगा। हम देखते हैं कि हमारा यह कार्य अमुक सज्जन कर सकते हैं तथा उनपर विश्वास करके उनकी आशा लगाये रहते हैं अथवा सोचने लगते हैं—अजी! चलो, रखा ही क्या है, हम करके छोड़ेंगे, अर्थात् हमें अपने अहंकारका भरोसा है। हम भगवान्की ओर नहीं ताकते कि वे हमारा कार्य कर देंगे। सच तो यह है कि हमारा वह कार्य भी, जिसे हम झूठ बोलकर सफल करने जा रहे हैं, मनुष्यकी अहंकारकी शक्तिसे पूरा कर लेनेका मनसूबा बाँध रहे हैं, पूरा होगा भगवान्की शक्ति, प्रेरणा एवं इच्छासे ही। किंतु हमारा अविश्वास इस सत्यको हमपर प्रकट नहीं होने देता और हमें ऐसा दीखता है कि झूठसे काम होगा, वे कर देंगे, हम कर लेंगे। इस प्रकार हम सदा उत्तरोत्तर भगवान्के आलोकसे दूर ही हटते रहते हैं। नेत्रोंकी ज्योतिमें मोतियाबिंदकी तरह उस विश्वासमें संशय समाया रहता है। मोतियाबिंदु होनेपर जैसे ज्योति धुँधली हो जाती है, सामनेकी वस्तु हम स्पष्ट देख नहीं पाते, वैसे ही विश्वासमें संशय घुस जानेपर—प्रभु करेंगे कि नहीं? क्या पता, प्रभुने किया है या किसी व्यक्तिकी सहायतासे हमारा काम हो गया है?—इस प्रकारका संशय रहनेपर विश्वाससे होनेवाले प्रभुके चमत्कारको सामने रहनेपर भी हम स्पष्ट नहीं देख पाते। इसीलिये संशयहीन दृढ़ विश्वास करनेकी आवश्यकता है। ऐसा निर्मल, स्थिर विश्वास होनेपर ही सभी बातोंमें प्रभुकी ओर ताकनेकी हमारी प्रवृत्ति होगी, हम उनकी ओर देखना चाहेंगे, देखेंगे तथा देखनेपर आगे या पीछे उनका आलोक हमारे नेत्रोंमें व्यक्त होकर ही रहेगा। इस प्रकार बुद्धिमें भगवान्की सत्ताका दृढ़ निश्चय होना ही श्रद्धाकी निर्मल आँख है।

दूसरी बात यह है कि हम इन्द्रियोंको विषयोंसे लौटाकर उनका मुख प्रभुकी ओर करें। जिस प्रकार

उलटाये हुए दीपमें तेल नहीं रखा जा सकता, उसी प्रकार प्रभुकी ओर पीठ देकर विषयोंकी ओर मुख रखनेवाली इन्द्रियोंमें भी भगवत्प्रेमकी स्निग्धता नहीं आ सकती। हमारी इन्द्रियोंका मुख उल्टा हो रहा है, प्रभुसे उल्टी दिशाकी ओर मुखकर ये दौड़ रही हैं—नेत्रोंको सुन्दर रूप, नासाको मीठा सौरभ, कानको मधुर शब्द, रसनाको मधुर रस, त्वक्को सुकोमल स्पर्श अत्यन्त प्यारा है। सुन्दर सुरभित मधुर सुकोमलके प्रति प्रीति बुरी भी नहीं है; पर सुन्दरता, सुवास, मधुरता, कोमलता आदि यहाँ हैं कहाँ ? यह तो भ्रम है। हम थोड़ी देरके लिये विवेकसे विचार करें—हमारी इन्द्रियाँ (किसीके परस्पर स्त्री-पुरुषोंके) सुन्दर रूपपर, सुरीले कण्ठपर, इत्र या सेंटसे सुवासित अङ्गोंके सुवासपर, अङ्गोंके कोमल स्पर्श आदिपर न्योछावर होने लगती हैं। पर मान लें, कलको उसकी मृत्यु हो जाय तो फिर सुन्दरता, सुवास आदि नष्ट क्यों हो जाते हैं ? शरीर तो वही है, सुन्दरता क्या हो गयी ? मुख भी है, जीभ भी है, पर सुरीला कण्ठ लुप्त क्यों हो गया ? कितना भी इत्र-सेंटसे उस मृत शरीरको चुपड़ दें, पर उसमें सड़न क्यों आने लग गयी ? अङ्ग ऐंठ क्यों गये ? अब यदि हमारा विवेक ठीक-ठीक काम करता है तो हम सहजमें ही समझ सकते हैं कि जबतक जीवके रूपमें प्रभुकी सत्ता, प्रभुकी आंशिक ज्योति उस शरीरमें, इन्द्रिय-गोलकोंमें व्यक्त थी, तभीतक वह सुन्दरता थी, सुरीली वाणी व्यक्त हो रही थी, सुवास झरता था, कोमलता लहराती थी। वह सत्ता अव्यक्त हुई कि वे सब भी उसीके साथ ही अव्यक्त हो गये, चले गये। वास्तवमें सौन्दर्य, माधुर्य, सौरभ-सुवास प्रभुका था, प्रभुके रहनेपर शरीर-इन्द्रियोंमें उनकी छाया पड़ रही थी, हमारी इन्द्रियोंको भ्रम हो रहा था कि वह सुन्दरता आदि इस शरीरकी है। अब प्रभु नहीं हैं, इसीलिये ये भी नहीं दीख रहे हैं। अतः ये सब प्रभुमें हैं, शरीरमें नहीं। प्रभु नित्य हैं। उनके सौन्दर्य-माधुर्य आदि गुण भी नित्य हैं। शरीर नश्वर है, सड़-गलकर मिट्टीमें मिल जानेवाली वस्तु है। इस विवेकको जाग्रत् करके नश्वर वस्तुसे, नश्वर भावसे चिपटी हुई इन्द्रियोंको हमें वहाँसे अलगकर प्रभुकी ओर करना पड़ेगा। जब इनका मुख इधरसे मुड़कर प्रभुकी ओर हो जायगा, भ्रमकी ओरसे हटकर जब ये सत्यस्वरूप प्रभुकी ओर ताकने लगेंगी, तब ये प्रभुका आलोक प्रकट करनेके लिये दीपकका काम देंगी, भगवत्-प्रेमकी स्निग्धता इनमें एकत्र हो सकेगी। दूसरे शब्दोंमें हमारी इन्द्रियोंमें विषयोंके प्रति वैराग्य होना ही यहाँ उनका दीपकका काम करने लग जाना है।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि हम सबसे सम्बन्ध तोड़कर वैरागी बाबा बन जायँ। ऐसा करना तो इस पद्धतिको सर्वथा नहीं समझना है। इसका तात्पर्य यह है कि नश्वरमें अवस्थित अविनाशीको हम ढूँढ़ निकालें। सुन्दर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन सबका जहाँ उद्गम है, वहाँ—उन प्रभुकी ओर हमारी इन्द्रियाँ केन्द्रित हों। अस्तु !

इन्द्रियोंका मुख भगवान्की ओर हो जानेपर तीसरी एवं चौथी बात अपने-आप आरम्भ हो जायेगी। विषयोंके सम्बन्ध एवं प्रभुके सम्बन्धके परिणाममें एक भारी अन्तर यह है कि विषयोंके प्राप्त होनेपर जब इन्द्रियाँ उनका उपभोग करने लगती हैं तो बस, उसी क्षणसे ही रस- (आनन्द-) की मात्रा कम होने लग जाती है। किसी रूपके प्रति हमारा अत्यधिक आकर्षण है, पर जहाँ उस रूपका उपभोग हमारी आँखोंको मिलने लगा कि बस उसी क्षणसे दर्शनका रस कम होने लगता है। भले ही प्रारम्भमें यह लक्षित न हो, पर यह सिद्धान्त ध्रुव सत्य है। किंतु इससे ठीक विपरीत यदि एक बार भी हम सर्वत्र व्याप्त प्रभुके नित्य सुन्दर रूपकी ओर आकर्षित हो जायँ, तो यह आकर्षण नित्य

निरन्तर बढ़ता ही रहेगा, दर्शन-सुखकी मात्रा निरन्तर बढ़ती रहेगी। एक नवयुवक किसी रूपवती युवतीको देखकर मुग्ध हो रहा है तथा प्रभुके आलोकका अनुभव करनेवाला एक संत अपनी काली-कलूटी पत्नी-को देखकर प्रेममें डूब रहा है—इन दोनोंमें युवकका युवतीके प्रति आकर्षण, प्रेम, उससे प्राप्त होनेवाला सुख तो मिलनके प्रथम क्षणसे ह्रासकी ओर बढ़ रहा है, किंतु संतका आकर्षण, प्रेम-सुख प्रतिक्षण वृद्धिकी ओर जा रहा है। ऐसा इसीलिये कि वह युवक, युवतीके बाह्य नश्वर सौन्दर्यको देख रहा है तथा संत उस काली-कलूटी पत्नीके अन्तरमें व्यक्त केवल प्रभुके नित्य नवीन हो जानेवाले सौन्दर्यको निहार रहा है। अतः जहाँ इन्द्रियोंका मुख प्रभुकी ओर हुआ कि इनका आकर्षण प्रभुकी ओर क्षण-क्षणमें बढ़ने लगेगा; यह आकर्षण प्रेममें परिणत होने लगेगा, प्रेमजनित स्निग्धतासे ये भरने लगेंगी। साथ ही यह नियम है कि मनके बिना इन्द्रियाँ काम नहीं कर सकतीं; जहाँ इन्द्रियाँ कार्य कर रही हैं, वहाँ मन भी है ही। जब इन्द्रियाँ विषयोंमें भटक रही थीं तो उस समय हमारे मनकी वृत्तियाँ भी बिखरे तन्तुओंकी भाँति इधर-उधर फैली रहती थीं। जब इन्द्रियाँ मुड़कर एक प्रभुकी ओर उन्मुख हो गयीं तो मनकी वृत्तियाँ भी एकाग्र हो गयीं; मानो बिखरे हुए तन्तु एकत्र होकर, जुड़कर बत्तीके रूपमें परिणत हो गये। साथ ही यदि हमारी इन्द्रियोंमें भगवत्-प्रेमकी स्निग्धता भरती जा रही है तो निश्चय है कि उनके साथ रहनेके कारण हमारा मन भी उस स्निग्धतासे सनता जा रहा है। यही है इन्द्रियरूप दीपका स्निग्ध पदार्थसे भर जाना एवं मनरूपी बत्ती (आलोकग्रहण करनेके साधनका) स्निग्ध हो जाना। इसीको कहते हैं भगवान्में राग हो जाना, रागयुक्त मनका भगवान्में एकाग्र हो जाना।

अब बस, पाँचवीं बात शेष रही है। वह है इस दीपका किसी प्रज्वलित दीपसे संसर्ग करा देना अर्थात् हमारा रागयुक्त एवं एकाग्र हुआ मन किसी ऐसे संतके मनसे जा जुड़े जिसमें प्रभुकी ज्योति जल रही हो तो यह भी अपने-आप प्रज्वलित हो जायगा। यदि हमारी बुद्धिमें भगवान्की सत्ताका दृढ़ निश्चय हो, इन्द्रियोंमें विषयोंके प्रति विराग हो, भगवान्के प्रति राग हो, रागयुक्त मन भगवान्में एकाग्र हो रहा हो तो अपने हृदयमें जलती हुई प्रभुकी ज्योतिको हमारे मनसे मिलाकर ज्योति जगानेवाले संत अपने-आप हमें ढूँढते हुए आ पहुँचते हैं; नहीं, नहीं स्वयं प्रभु ही उन संतके रूपमें आकर, हृदयसे लगाकर हमारे हृदयको भी आलोकित कर देते हैं। फिर अनुभव होता है—हम नहीं, हमारा कुछ नहीं; एकमात्र वे ही हैं। सर्वत्र उन्हींकी लीला चल रही है।

आरम्भसे लेकर अबतक—व्यवहार-सुधार (मानव-धर्म), भगवान्में श्रद्धा, विषयोंमें वैराग्य, भगवान्में अनुराग, मनकी एकाग्रता एवं संत-मिलन—ये छः बातें हुईं। ये छः बातें हमारे जीवनमें आ जायँ, इसके लिये हमें चेष्टा करनी ही चाहिये। यह नियम नहीं है कि सबके जीवनमें ये एक ही क्रमसे आयेंगी। हमारे संस्कार एवं वातावरणके अनुसार ही क्रम बनेगा और वह भिन्न-भिन्न होगा। पर यह सत्य है कि इनमें एक पूरी आ गयी तो शेष पाँचों भी आकर ही रहेंगी; क्योंकि इनमें परस्पर सम्बन्ध है। हमें तो चाहिये कि एकको, दोको, तीनको—जितना हम अपने जीवनमें उतार सकें, उन्हें क्रियात्मकरूपमें अपने जीवनमें उतारें, शेष अपने-आप उतर आयँगी। इस प्रकार चेष्टा करके, जीवन समाप्त होते-न-होते हम भगवान्की ज्योति जगा लें, ज्योति जगाकर उनको पहचान लें। भगवान्की ज्योतिमें अपने भीतर एक अद्भुत आनन्दमय प्रकाशकी अनुभूति होगी। (समाप्त)

मूर्तिपूजाकी व्यापकता

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीनिरञ्जनदेवतीर्थजी महाराज)

[एक महानुभावने प्रायः १५ वर्ष पूर्व जयपुर चातुर्मास्यके अवसरपर पुरीपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्यजी महाराजसे मूर्तिपूजाके विषयमें जिज्ञासारूपमें कुछ प्रश्न किये थे। उनका उत्तर महाराजश्रीद्वारा दिया गया था। पाठकोंके लाभार्थ उसे यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। —सम्पादक]

पूज्यपाद अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीनिरञ्जनदेवतीर्थजी महाराज १९७० में धामाणी-भवन जयपुरमें चातुर्मास्य कर रहे थे। २१ जुलाईको मैं भी उनके वहाँ दर्शन करने गया था। मैंने मूर्तिपूजाके विषयमें अपनी कुछ जिज्ञासाएँ उनके सामने प्रकट की थीं। उत्तरमें कहे स्वामीजीके श्रीमुखके कथनको मैंने वहीं लिपिबद्ध कर लिया था, जो प्रायः यहाँ वैसे ही दिया जा रहा है। प्रस्तुत पङ्क्तियोंमें यदि कहीं कोई विसंगति रह गयी हो तो उसे पाठक मेरा प्रमाद ही समझें, पूज्य आचार्यश्रीका नहीं।

जगद्गुरुजीने कहा था—'वेदके अनेक मन्त्रोंसे मूर्ति-पूजा सिद्ध होती है। सम्पूर्ण विष्णुधर्म, मत्स्यपुराण, शिल्परत्न आदि ग्रन्थ इन्हींके विवरण एवं विवेचनोंसे पूर्ण हैं। सामान्यतः संसारके सभी धर्मोंमें किसी-न-किसी रूपमें मूर्ति-पूजा विद्यमान है। ईसाई गिरजाघरके बाहर क्राइस्टकी मूर्ति बनाते हैं। यहूदियोंका मूर्ति-पूजामें विश्वास है। मुसलमान भाई ताजिया निकालते हैं। पारसी अग्निकी पूजा करते हैं। जैनियोंमें दिगम्बर सम्प्रदाय मूर्ति-पूजक हैं। श्वेताम्बरोंमें सभी मन्दिर-मार्गी होते हैं। बौद्ध सम्प्रदायानुयायी महात्मा बुद्धकी पूजा करते हैं। सिक्ख लोग गुरुग्रन्थ साहबकी विशेष श्रद्धासे पूजा करते हैं। आर्यसमाजी बन्धु दयानन्दजी सरस्वतीके चित्रको देखकर श्रद्धावनत हो जाते हैं, पुष्पहार समर्पित करते हैं। इससे क्या सिद्ध होता है?—यही न कि सभी किसी-न-किसी रूपमें मूर्तिपूजक हैं।

आत्मा निर्गुण-निराकार है, पर उसका बाह्य स्थूल शरीर है। माता-पिताके प्रति श्रद्धा व्यक्त करनेके लिये उनके शरीर-उनकी मूर्तिकी ही सेवा की जाती है। माता-पिताके छाया-चित्रों (फोटो)को माला पहनायी जाती है। आजकल तो विवाह-सम्बन्ध भी छायाचित्रोंको देखकर निश्चित हो जा रहे हैं।

भगवान्‌के प्रति श्रद्धा-भाव प्रकट करनेके लिये अर्चा-विग्रह हैं। निर्गुण-निराकार भगवान् भक्तजनोंको निज संग प्रदान करनेके लिये सगुण-साकार हुए हैं। जिस तरह माता-पिताका स्मरण उनके चित्रोंद्वारा हो जाता है, उसी तरह भगवान्‌की स्मृति बनाये रखनेके लिये अर्चा-विग्रह हैं। प्राचीनतम २५० पाञ्चरात्र आगम एवं ५० वैखानसागमकी संहिताएँ इन्हीं मन्दिर-प्रतिमा-संस्कारोंपर प्रकाश डालती हैं। मूर्ति-पूजाके कारण पूरे राष्ट्रमें भौगोलिक, सांस्कृतिक भावात्मक एकता है। उत्तर भारतके लोग दक्षिणमें सेतुबन्ध रामेश्वरम्‌के दर्शन-हेतु जाते हैं और गङ्गोत्तरीका जल वहाँ भगवान्‌को अर्पित करते हैं। दक्षिणके लोग उत्तरमें बदरिकाश्रममें भगवान् बदरीनाथके दर्शन करने आते हैं। बदरीनाथके पुजारी नम्बुदरीपाद ब्राह्मण दक्षिण भारतके ही होते हैं।

मूर्ति-पूजा अनादिकालसे चली आ रही है। अनुपम कलापूर्ण मूर्तियोंका निर्माण यहाँके कलाकार अतीतकालसे करते आ रहे हैं। हजारों वर्ष पुरानी मूर्तियाँ भूगर्भसे मिली हैं। संगीतमें जितनी राग-रागिनियाँ हैं, उनकी मूर्तियाँ मंडोर जोधपुरमें हैं। संगीतकी स्वर-लहरियोंके आधारपर मूर्तियोंका निर्माण हुआ है।

अधिकतर कलाकारोंके जीवन-निर्वाहका आधार मूर्ति-निर्माण, देवालय-रचना तथा पूजाके उपकरणोंको बनाना है। यह भगवान्‌की प्राप्तिका सरलतमपथ है।

प्रेषक—श्रीमुरलीधर शर्मा गौड़ 'राजीव'

श्रीमद्भागवतमें योगत्रय (२)

[भागवतके एकादश स्कन्धमें आये योगत्रयका विवेचन]

(ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

अर्जुन भक्ति-प्रधान कर्मयोगके अधिकारी थे। भक्ति और कर्म दोनोंका साथ रहना हो सकता है। दोनोंका घनिष्ठ सम्बन्ध है, पर कर्म और भक्ति ज्ञानयोगके अङ्ग नहीं कहे जा सकते। जो पाप कर्म करता है उसे नरककी प्राप्ति होती है और पुण्य कर्म करनेवालेको स्वर्गकी प्राप्ति। किंतु जो निष्काम कर्म ही करता है उसे न पाप होते हैं न पुण्य। उसकी मुक्ति हो जाती है। मल दोषका नाश होनेपर ज्ञानमार्गमें जाना चाहिये। कोई भक्तिमें न जाकर सीधा कर्मयोग-ज्ञानयोगमें जाना चाहे तो उसे भी निष्काम कर्मसे आसक्तिका नाश होकर भगवत्कृपासे विक्षेपका नाश हो जानेपर भगवत्प्राप्ति हो जाती है। इसके लिये गीतामें देखिये—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥
(४। ३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥
(गी० ५। ६)

'परंतु हे अर्जुन! कर्मयोगके बिना संन्यास (मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापन-का त्याग) प्राप्त होना कठिन है और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है।'

अब ज्ञानयोगके स्वरूपके विषयमें बतलाया जाता है। यह तो बतला दिया कि पहले कर्मयोग उसके बाद भक्तियोग—यह ज्ञानयोगसे पहलेकी सीढ़ी है। जो कर्मयोग और भक्तियोगकी सीढ़ियोंको छोड़कर एकदम ज्ञानयोग-की सीढ़ीपर चढ़ना चाहता है, उसे बहुत कठिनाईसे भगवत्प्राप्ति होती है। केवल ज्ञानयोगसे भगवत्प्राप्तिको असम्भव तो नहीं कहते, पर असम्भव-सी कहते हैं। साधनरूप ज्ञानके परिपक्व हो जानेपर फलरूप ज्ञान प्राप्त होता है। दोनोंका स्वरूप समझना चाहिये। गीताके तेरहवें अध्यायके ७ वेंसे ११ वें श्लोकतक साधनरूप ज्ञानका वर्णन है, क्योंकि ११ वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥

'अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना यह सब ज्ञान है और जो इससे विपरीत है वह अज्ञान है—ऐसा कहा है।'

इससे मालूम होता है कि फलरूप तत्त्वज्ञान इससे भिन्न है। ज्ञानी समझता है कि जो कुछ है वह ब्रह्म है अथवा जो कुछ है वह मैं ही हूँ अर्थात् सब कुछ मेरा ही स्वरूप है, मुझसे भिन्न और कोई वस्तु नहीं है। जैसे, आकाशमें दूसरे चारों भूत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि हैं, आकाश ही इन सबका कारण और आधार है और वही उनमें व्याप्त भी है। आकाश चेतन नहीं है पर वह यदि चेतन हो और देखे तो उसे मालूम होगा कि मेरे एक अंशमें चारों भूत हैं तथा जैसे बादल आकाशमें ही उत्पन्न होते, उसीमें स्थित रहते और उसीमें मिट जाते हैं, इसी प्रकार (आकाश-की भाँति) परमात्मा ही सम्पूर्ण चराचर जगत्के महाकारण हैं, वे ही सबमें व्याप्त हैं और सबके एकमात्र आधार हैं, (महाप्रलयके समय) उन्हींमें सब लीन हो जाते हैं। इसी तरह ज्ञानी जो कुछ है सबको आनन्दमय

परमात्मा ही समझता है, अपनेको भी आनन्दमय ही देखता है। यहाँ 'आनन्द' शब्द सच्चिदानन्द ब्रह्मका वाचक है, लौकिक आनन्दका नहीं।

इसी प्रकार ज्ञानी देखता है कि विश्वके सभी प्राणी मेरे संकल्पके आधारपर हैं, जैसे आकाशमें जाले दीखते हैं, वैसे ही आनन्दरूप आत्मामें सारे भूतोंकी प्रतीति होती है। वास्तवमें सारे भूत (जगत्) हैं नहीं, केवल उनकी प्रतीतिमात्र होती है। ऐसी अवस्था होनेपर—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
(गीता १८। ५४)

'वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी परा भक्तिको प्राप्त हो जाता है।'

यहाँ भगवान्ने साफ-साफ शब्दोंमें कहा है कि उसे अनुभव है कि मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ और उसका विशेषण दिया है **'प्रसन्नात्मा'**—वह सदा प्रसन्न रहता है, सदा आनन्दमें मग्न रहता है। इसपर कोई कहे कि कोई स्त्री, पुत्र, धन आदिके घमण्डसे ही अपनेको प्रसन्न माने और उसीमें मग्न रहे तो क्या वह प्रसन्नात्मा नहीं है? इसका उत्तर यह है कि इसीलिये भगवान् इतना ही कहकर नहीं रह गये, इसके आगे कहा कि उसे न किसीकी चिंता और न किसीकी आकाङ्क्षा रहती है, इतना ही नहीं, **'समः सर्वेषु भूतेषु'**—सब भूतोंमें, सारे ब्रह्माण्डभरमें, उसकी ऐसी समता होती है जैसी कि अज्ञानीकी शरीरमें होती है। इसपर कोई पुनः कहे कि अभी तो एक ही शरीरका दुःख है, फिर तो सारे ब्रह्माण्डमें जितने शरीर हैं सभीका दुःख होने लगेगा। इसका समाधान यह है कि सबमें समभाव होते हुए भी उस ज्ञानीको दुःख नहीं होता; क्योंकि दुःख-सुख अज्ञानसे होता है। इसके बाद कहा—**'मद्भक्तिं लभते पराम्'**—मेरी परा भक्तिको प्राप्त होता है। भक्ति दो प्रकारकी है। एक नवधा भक्ति और इसकी फलरूपा प्रेम-लक्षणा भक्ति तथा दूसरी पराभक्ति। नवधाभक्तिका लक्षण यह है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

'भगवान्के नाम, रूप, लीला, गुण आदिका स्मरण, चरणोंकी सेवा, पूजा, नमस्कार, दासभाव, सख्यभाव और आत्मनिवेदन (शरणागति) यह नौ प्रकारकी भक्ति है।'

प्रेमलक्षणाभक्तिका लक्षण यह है—

न लाज तीन लोककी न वेदको कह्यौ करै।
न शंक भूत प्रेत का, न देव यक्ष तें डरै॥
सुनै न कान और की, द्रसै न और इच्छना।
कहै न मुख और बात, भक्ति-प्रेम लच्छना॥

पराभक्ति—जो ज्ञानकी निष्ठा है वह इसका फल है—तत्त्वज्ञान—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(१८। ५५)

'उस परा भक्तिके द्वारा मुझको तत्त्वसे भलीभाँति जानता है कि मैं जो और जिस प्रभाववाला हूँ तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर, तत्काल ही मुझमें प्रवेश कर जाता है, अर्थात् अनन्यभावसे मुझको प्राप्तकर लेता है। फिर उसकी दृष्टिसे मुक्त वासुदेवके सिवाय और कुछ भी नहीं रहता यह फल हुआ। ज्ञानयोगके साधनकालमें उसकी कैसी स्थिति रहती है, उसे देखिये—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
(१८। ५१)

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
(१८ । ५२-५३)

'विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हल्का, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारण-शक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहङ्कार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला, ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्द ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थिति होनेका पात्र होता है ।'

इसकी शेष (अन्तिम) सीमा ज्ञाननिष्ठा है, ज्ञाननिष्ठाकी सीमा तत्त्वज्ञान और इसका फल भगवत्प्राप्ति (परमगतिकी प्राप्ति) है । कर्मयोगसे भी यही फल मिलता है—

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥
(५ । ५)

'ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, निष्काम कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है, इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और निष्कामकर्मयोगको फलरूपसे एक देखता है, वही यथार्थ देखता है ।'

यहाँ मार्गकी दृष्टिसे दोनों स्वतन्त्र हैं, दोनों ही साधन हैं, साध्य नहीं हैं । साधन अनेक प्रकारके हो सकते हैं । इसपर कोई कहे कि यहाँ भागवतमें तो तीन ही कहे हैं तो इसका समाधान यह है कि दूसरे सब साधन इन तीनोंमें ही आ जाते हैं, जैसे—ध्यानयोग भक्तिका एक अङ्गमात्र है ।

गीतामें चौथे अध्यायके २४वें श्लोकसे ३०वें श्लोकतक बारह प्रकारके साधन बतलाये हैं । ये सब कर्मयोग और सांख्यके अन्तर्गत आ जाते हैं । योगशास्त्रके प्रथम पादके ११वें सूत्रसे प्रथमपादकी समाप्तितक बहुत-से साधन बतलाये गये हैं । ये सब अभेद सिद्धान्त- (ज्ञान-) में आ जाते हैं ।

यहाँतक ज्ञानयोगकी कुछ बातें बतलायी गयीं, अब भक्ति और कर्मयोगके विषयमें पुनः बतलाया जाता है ।

कर्मयोगका अधिकारी कर्मोंकी आसक्तिवाला होता है । कर्मयोगके साधनसे प्रथम मलदोषका नाश होकर विक्षेपका नाश होता है । उसके बाद वह भगवान्‌के परमधामको प्राप्त हो जाता है और जिसकी न कर्मोंमें आसक्ति है न वैराग्य है वह भक्तिका अधिकारी है । मनुष्य पापी-से-पापी भी क्यों न हो वह भी भक्तिका अधिकारी है । गीतामें कहा है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
(गीता ९ । ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है, तो वह साधु ही माननेयोग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है । वह (साधन करते-करते) शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परमशान्तिको यथासम्भव प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ।'

इसपर कोई कहे कि गीतामें तो दुराचारीको भी अधिकारी बताया है और भागवतमें बताया है कि जिसकी कर्मोंमें न आसक्ति है और न वैराग्य है वह

भक्तिका अधिकारी है, इस तरह दोनोंके कथनमें विरोध आता है तो इसका समाधान यह है कि गीतामें **'चेत्'** और **'अपि'** शब्द इस बातको बता रहे हैं कि ऐसा पुरुष (जो अत्यन्त दुराचारी हो) मेरी भक्तिका अधिकारी नहीं, पर यदि वह भी करे तो मेरी प्राप्ति कर सकता है । यहाँ यह छूट दी गयी है, यहाँ विधि नहीं है । अत्यन्त दुराचारीका भक्ति करना सम्भव नहीं, पर यदि वह भी करे तो वह मेरी प्राप्ति कर सकता है । इसी प्रकार ज्ञानयोगके विषयमें भी कहा गया है । यहाँ ९ । ३० में **'अपि'**, **'चेत्'** और **'सु'** दिया है और वहाँ ४ । ३६ में **'अपि' 'चेत्'** और **'पापकृत्तमः'** दिया है ।

जब पशु-पक्षी भी भक्तिसे मुक्त हो जाते हैं तो उच्च वर्णवाला मनुष्य भक्तिद्वारा तर जाय तो आश्चर्यकी कौन-सी बात है ? वास्तवमें भक्तिके लायक तो मध्यस्थ (न अत्यन्त वैराग्य और न अत्यन्त आसक्तिवाला, जिसे कर्ममें झंझट मालूम होती हो) पुरुष ही है । पर बिना अधिकारके भी करें तो उसे मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है । पर ज्ञानके साधनको बिना अधिकारी बने करे तो मुक्तिका प्राप्त होना असम्भवके समान है; क्योंकि ज्ञानमें विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता—इन चारोंकी अत्यावश्यकता है ।

विवेक—सत्-असत्का यथार्थ (विवेचनापूर्ण) ज्ञान ।

वैराग्य—इहलौकिक और पारलौकिक पदार्थोंमें आसक्तिका अभाव ।

षट्-सम्पत्तियाँ ये हैं—शम, दम, तितिक्षा, समाधान, उपरति और श्रद्धा । शम—मनको वशमें करना, दम—इन्द्रियोंका वशमें करना, तितिक्षा—वर्षा, धूप, शीत, उष्ण आदिका सहन करना, उपरति—उपरामताका नाम है; यानी इन्द्रियोंको विषयोंसे हटा लेना, विषयोंसे उपरत हो जाना । श्रद्धा-विश्वास । मुमुक्षुता—मुक्तिकी तीव्र इच्छा ।

ज्ञानके साधकको षट्सम्पत्तिसम्पन्न होना चाहिये । इतना न हो तो कम-से-कम वैराग्य तो होना ही चाहिये । बिना इसके हुए ज्ञानमें प्रवेश करना चाहे तो ज्ञानकी जगह अज्ञान आ जाता है । इस विषयमें गोस्वामी तुलसीदासजीका यह दोहा स्मरण रखनेयोग्य है—

> **ब्रह्मज्ञान जान्यो नहीं कर्म दिये छिटकाय ।**
> **तुलसी ऐसी आत्मा सहज नरकमें जाय ॥**

यदि विषयोंमें वैराग्य नहीं है तो कुत्तेमें और उसमें क्या फर्क है ? तात्पर्य यह कि वैराग्य अवश्य होना चाहिये । ज्ञानका पूरा अधिकारी होनेपर कार्यकी सिद्धि जल्दी हो जाती है । पूरा अधिकारी वही है जिनमें उपर्युक्त चारों बातें (विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता) हों । अनधिकारी यदि ज्ञानके मार्गमें चलता है तो उसके लिये भय है—उसके पतन होनेकी अधिक सम्भावना है । (क्रमशः)

कृपामार्ग

जीव यदि संन्यास ले और योगमार्गका अभ्यासी बने तभी उसे मुक्ति प्राप्त हो सकती है, इसके बिना नहीं । यही नियम है । परंतु यदि किसी जीवपर परमात्माकी कृपा-दृष्टि अवतरित हो जाय तो संन्यास या योगके बिना ही जीवन्मुक्ति सम्भव हो सकती है । कृपामार्ग ऐसा दिव्य साधन है । सभी प्रकारकी साधना करते हुए भी जो अहंकाररहित होकर दीनावस्थामें प्रभुके चरणोंमें गिर जाता है, उसीपर भगवत्कृपा उतरती है । मनका मैल आँखोंके आँसुओंसे धुलता है । भगवान्के लिये जो रुदन करता है, उसीपर भगवान् कृपा करते हैं ।

कुन्तीकी स्तुति

(लेखक—पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्
राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ।
गोविन्द गोद्विजसुरार्तिहरावतार
योगेश्वराखिलगुरो भगवन्नमस्ते ॥*

(श्रीमद्भागवत १ । ८ । ४३)

जो अपने प्राणोंके समान प्यारे हैं, यदि सौभाग्यसे उनके सहवासका सुख प्राप्त हो जाय, क्योंकि दो प्रेमी चिरकालतक प्रायः साथ रह नहीं सकते, यदि कारण-विशेषसे बहुत दिनतक वे हममें घुल-मिलकर रह जायँ और फिर वे हमसे बिछुड़ने लगें तो वेदना होती है। अन्तःकरणमें पीड़ा होती है। चित्त चाहता है, किसी भाँति ये रुक जायँ, आज न जायँ। कल फिर वही दशा होती है। प्रेममें तृप्ति नहीं, सन्तोष नहीं।

वासुदेव अब सबसे विदा होकर चले। उत्तराको अभय देकर, पाण्डवोंको संकटसे छुड़ाकर अब उन्हें द्वारकाकी याद आयी। मित्रोंने उनका स्वस्त्ययन किया। उन्होंने सबको अभिवादन किया और वे रथपर आकर बैठ गये। इतनेमें ही निज निवाससे निकलकर दासियोंसहित महारानी कुन्तीने आकर श्रीकृष्णके रथको रोक लिया, अपनी बड़ी बुआको सामने देख श्यामसुन्दर शीघ्रताके साथ रथसे उतर पड़े। महारानी और आगे बढ़ीं और आँखोंमें आँसू भरकर श्रीकृष्णका पल्ला पकड़कर बोलीं—'वासुदेव ! मैं तुम्हें नमस्कार करती हूँ।'

लज्जाका भाव प्रदर्शित करते हुए देवकीनन्दन बोले—'बुआजी ! यह आप कैसी उल्टी गङ्गा बहा रही हैं। आप मेरे पिताकी भी पूजनीया हैं। मेरी बड़ी बुआ हैं। नमस्कार आपके चरणोंमें मुझे करना चाहिये कि आपको ? आप तो मुझ बालकपर अपराध चढ़ा रही हैं।

रुँधे हुए कण्ठसे कुन्तीजीने कहा—'प्रभो ! आप सामान्य पुरुष नहीं हैं। कौन आपकी बहन, कौन बुआ ! आप तो प्रकृतिसे परे अनादि, ईश्वर और अधोक्षज हैं, समस्त प्राणियोंके भीतर-बाहर समानरूपसे स्थित हैं, किंतु किसीको दिखायी नहीं देते। हाँ, निर्मल चित्तवाले महामुनि परमहंस भक्तियोगके द्वारा हृदयमन्दिरमें आपका साक्षात्कार करते हैं। आप मायारूपी यवनिकासे आच्छादित हैं। आपने घूँघट डालकर अपना चन्द्रमुख छिपा लिया है। उसे निर्मल, शुद्ध, मायामोहसे रहित भक्त ही देख सकते हैं। मायाके पाशसे आबद्ध मेरी-जैसी अज्ञ स्त्रियाँ भला उसके रहस्यको कैसे जान सकती हैं ?

भगवान् बोले—'बुआजी ! आप क्या कह रही हैं, मैं तो वही आपके भाई वसुदेवजीका पुत्र कृष्ण हूँ।'

कुन्तीजी बोलीं—'जनार्दन ! आज मुझे कह लेने दो, आज मुझे अपने आन्तरिक भावोंको प्रकट कर लेने दो। तुम वसुदेव-देवकीके पुत्र कृष्ण हो नहीं हो, किंतु सर्वत्र सबमें निवास करनेवाले, भक्तोंको अपने सौन्दर्य-माधुर्यसे अपनी ओर खींचनेवाले, इन्द्रियोंसे अतीत परब्रह्म हो। इतना सब होनेपर भी तुम नन्दनन्दन हो, गोपीजनवल्लभ हो। तुम्हारे नाभिकमलसे ही चतुरानन ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं। तुम यह जो विकसित कमनीय कमलोंकी अद्भुत माला धारण किये हुए हो, इससे तुम्हारी शोभा और भी अतुलनीय हो गयी है। कमलके समान खिले हुए तुम्हारे ये बड़े-बड़े नेत्र, कमलके चिह्नोंसे चिह्नित, चिकने और अरुण वर्णके ये तुम्हारे परम पावन पादपद्म मेरे मनमन्दिरमें सदा निवास करते रहें, हे अच्युत ! मेरे प्रणाम स्वीकार करो।'

भगवान् हँसे और बोले—'बुआजी ! आज आपको क्या हो गया है, क्यों आज ये आप बेसुरे गीत गा रही हैं !

यह सुनकर कुन्ती रो पड़ीं और रोते-रोते बोलीं—'वासुदेव ! आज मुझे रोको मत, आज मुझे कह लेने दो। मैं तुम्हारी अहैतुकी कृपाके बोझसे बहुत अधिक बोझीली हो गयी हूँ। अनेक अहैतुक उपकारोंके भारसे मुझे तुमने आभारी बना दिया है। जैसी दया तुमने मेरे ऊपर की है

* कुन्तीदेवी भगवान्‌की स्तुति करती हैं—'अर्जुनके सखा श्रीकृष्ण ! वृष्णिवंशावतंस ! भारभूत भूपतियोंको भस्म करनेके लिये अनल-स्वरूप ! अक्षयवीर्य ! गोविन्द ! गो-ब्राह्मण और देवताओंके दुःखको दूर करनेके लिये अवतीर्ण योगेश्वर ! अखिल जगद्गुरो ! आपको नमस्कार है।'

वैसी दया तो अपनी सगी माताके ऊपर भी नहीं की। अपनी माता देवकीको तो तुमने सीमित कारागारकी सीमासे ही बाहर किया, किंतु मुझे तो इस असीम संसारके बन्धनसे सदाके लिये मुक्त कर दिया। हृषीकेश! भाभी देवकीको तो तुमने अकेले ही उबारा, उसके पुत्र तो पापी कंसके द्वारा मारे ही गये, किंतु मुझे तो तुमने दुष्ट दुर्योधनके दारुण दुःखोंसे पाँचों पुत्रोंसहित उबारा है। हमारी सभी विपत्तियोंमें तुम स्वयं आकर सम्मिलित हुए, हमारे छोटे-से-छोटे और बड़े सभी कार्य तुमने अपने हाथों किये। क्या मुँह लेकर हम तुम्हारी प्रशंसा करें? एक उपकार हो तो उसका कथन भी किया जाय। हमारी तो पग-पगपर प्रभो! आपने रक्षा की। दुष्ट दुर्योधनने भीमको भोजनमें विष देकर मार डालना चाहा, आपने कृपा करके मारनेके स्थानमें उसे और अधिक बलवान् बना दिया। चाण्डाल-चौकड़ीने मिलकर लाक्षागृहमें पुत्रोंसहित हमें जला डालनेके षड्यन्त्र रचे, किंतु आपने बाल-बाल बचाया। इतना ही नहीं, उसी विपत्तिके समय अयोनिजा त्रैलोक्यसुन्दरी द्रौपदीको भी मेरी पुत्रबधू बनाया। हिडिम्ब, एकचक्रा नगरीका राक्षस बक आदि बड़े-बड़े दुष्ट राक्षसोंने पाण्डवोंपर आक्रमण किये, किंतु आपकी कृपासे वे आक्रामक स्वयं ही मारे गये। प्रभो! द्यूतकी सभामें पतिव्रता द्रौपदीकी लाज आपके सिवा कौन बचा सकता था। वनवासकी विपत्तिमें राज्यभ्रष्ट पाण्डवोंकी रक्षा करनेकी आपके सिवा किसमें सामर्थ्य थी? अपने विशाल अस्त्र और प्रबल पराक्रमके कारण त्रैलोक्यमें कहीं भी अपनेको गुप्त न रख सकनेवाले मेरे पुत्र सालभरतक विराट-नगरीमें आपके ही अनुग्रहसे तो छिपे रहे। अच्छा, ये सब विपत्तियाँ तो ऐसी थीं, जिनसे भविष्यमें मृत्युकी शङ्का थी, किंतु रणमें तो क्षण-क्षणमें मृत्यु उपस्थित थी। एक बाणमें त्रैलोक्यको विध्वंस करनेवाले भीष्म, द्रोण और कर्णके बाणोंको देवता भी सहन करनेमें समर्थ नहीं थे। संग्राममें सामने आये हुए यमराजको भी जो नाश कर सकते थे, उन महारथियोंके महान् अस्त्रोंसे आपने रथवान् बनकर, सारथि होकर, मेरे पुत्रोंकी रक्षा की, उन्हें कालके गालसे सकुशल निकालकर महीपालोंका भी महीपाल बनाया। युद्धके अनन्तर भी आज, यह तो मैंने प्रत्यक्ष अपनी आँखोंसे ही देखा कि, गुरुपुत्र अश्वत्थामाद्वारा चलाये हुए ब्रह्मास्त्रसे, जो कभी भी व्यर्थ न होनेवाला अस्त्र है, सबको बात-की-बातमें आपने बचा लिया। अव्यर्थ अस्त्रको भी व्यर्थ बना दिया। किसीसे न कटनेवाले अभिमन्त्रित अनुपम बाणको सुदर्शनचक्रसे काटकर फेंक दिया। इसलिये अब मैं कहाँतक आपके उपकारोंको गिनाऊँ? कहाँतक आपके गुण गाऊँ? कहाँतक आपकी अहैतुकी कृपाका वर्णन करूँ? अब मेरी आपसे एक अन्तिम प्रार्थना है, मैं आपसे एक वरदान चाहती हूँ। यदि आप देनेका वचन दें तो मैं माँगूँ।'

भगवान् बातको टालनेकी दृष्टिसे सकुचाते हुए बोले—'बुआजी! कैसी बात कर रही हैं आप! मेरा सर्वस्व आपका है, मेरा रोम-रोम आपके काम आवे तो मैं अपना अहोभाग्य समझूँगा। मेरे चामसे आपका कोई काम निकले तो अभी इसी समय इसी खड्गसे अपने-आप अपना चर्म उधेड़कर दे सकता हूँ। आप ऐसा संकोच न करें, आप जो माँगेंगी, वही दूँगा।'

रोती हुई कुन्तीने सिसकियाँ भरते हुए कहा—'लालजी! क्यों मुझे लज्जित करते हो? क्यों मुझे भारसे दबी हुईको और अधिक दबाते हो? करुणासिन्धो! तुम्हारा ही तो सहारा है। तुम कृपा न करते तो आज हम कहींके भी न रहते। तुमने जो करना था, सब किया। अब मुझे कुछ नहीं चाहिये। मैं अब तुम्हारे सामने पल्ला पसारकर एक यही भीख माँगती हूँ कि हमपर सदा ही इसी प्रकार—इससे भी अधिक विपत्तियाँ आती रहें, यही मेरी अन्तिम वर-याचना है, इसीको हे दयालो! जाते समय मुझे दे जाओ।'

भगवान् आश्चर्यचकित होकर कुन्तीजीकी ओर देखने लगे और अत्यन्त विस्मयके स्वरमें कहने लगे—'बुआजी! बुआजी! आपका चित्त तो ठीक है न? आप यह क्या माँग रही हैं, जान-बूझकर मुझसे फिर उन्हीं विपत्तियोंकी याचना करती हैं जिनके कारण आपको इतना क्लेश हुआ और जिन्हें निवारण करनेको मुझे बार-बार द्वारकासे दौड़ना पड़ा। आप उच्च-से-उच्च कुलमें जन्मकी याचना करें, अतुल ऐश्वर्यका वर माँगें, समस्त संशयोंका उच्छेदन करनेवाली विद्या माँगें, जो लक्ष्मी चंचला और चपला कहकर प्रसिद्ध है, वह आपके यहाँ सौम्या, स्थिरा और अचला बनकर निवास करे—इसके लिये अनुरोध करें, तब तो ठीक भी है; विपत्ति आप क्यों माँग रही हैं?'

कुन्तीजी बोलीं—'वासुदेव! मुझे अब अधिक न बहकाओ, मैं तुम्हारे प्रभावको तुम्हारी कृपासे समझने लगी हूँ। इसपर विपत्तियाँ न आतीं तो तुम हमारे समीप क्यों

आते। सम्पत्तिमें हम तुम्हारी याद क्यों करते। उसीके मदमें मदान्ध होकर स्वतः आनेपर भी तुम्हारा अपमान ही करते। विपत्तियोंने ही तो हमें तुम्हारे वे दर्शन कराये, जिनके कर लेनेपर फिर कभी संसारका दर्शन नहीं होता। हम उन अनित्य, क्षणभङ्गुर, तुच्छ, नाशवान् सुखोंको लेकर क्या करेंगे, जो हमें तुमसे अलग कर दें। हम उन विपत्तियोंका हृदयसे स्वागत करते हैं, जो बार-बार तुम्हारे दर्शनोंका अवसर देती हैं। हे दयासागर! विपत्तियोंने ही हमें तुम्हारी शरणमें जाना सिखाया। तुम ही एकमात्र दुःख दूर करनेवाले हो, यह बात विपत्तियोंने ही हमें बतायी, फिर उन्हें छोड़कर हम सम्पत्तिकी चाह क्यों करें। जो हमें तुमसे मिलाती हैं, तुम्हारा कृपापात्र बनाती हैं, वे विपत्तियाँ ही हमारे लिये परम सम्पत्ति हैं। और जो सम्पत्तियाँ आपसे दूर हटाती हैं, वे हमारे लिये घोर विपत्तियाँ हैं। अब रही सत्कुलमें जन्म, ऐश्वर्य, विद्या और लक्ष्मीकी बात; सो प्रभो! ये तो मादक वस्तुएँ हैं, इनके मदमें मत्त हुआ प्राणी संसारमें सभीका अपमान करता है। किसीको अपने समान नहीं समझता। सभीका तिरस्कार करता है। वह सबके सामने सुमधुर नामोंका निर्लज्ज होकर कीर्तन कैसे कर सकता है और बिना संकीर्तनके, बिना उच्च स्वरके पुकारे तुम आते नहीं। अतः तुमको भुलानेवाले धन-वैभव-विद्यादि हमें नहीं चाहिये। हमें तो तुम्हें बुलानेवाली विपत्ति ही अभीष्ट है।

जिन्हें अपने धनका, गुणोंका अभिमान है, उनके समीप तुम जाते ही नहीं, तुमको यदि ऐश्वर्य प्रिय होता, वैभवसे ही तुम प्रसन्न होते, तो फिर दुर्योधनकी सुन्दर स्वादिष्ट सामग्रियोंको छोड़कर विदुरके घर साग खाने क्यों दौड़े जाते। इससे पता चलता है, तुम अकिंचन-प्रिय हो, दीनोंके नाथ हो, निर्धनोंके धन हो, कंगालोंको सम्पत्ति हो, तुमको ऐश्वर्यकी, गुणोंकी, सजी हुई सामग्रियोंकी क्या अपेक्षा होगी। तुम तो स्वयं माया-प्रपंचसे रहित अपने-आपमें ही रमण करनेवाले, शान्तस्वरूप तथा मोक्षके भी स्वामी हो। दुर्योधन आदि दुष्टोंने तुमको पकड़ना चाहा, किंतु तुम तो कालके भी काल हो, नियमके भी नियन्ता हो, आदि-अन्तसे रहित और सबमें समानरूपसे विचरण करनेवाले हो। तुम्हारे लिये न कोई प्रिय है न अप्रिय। तुम्हारी दृष्टिमें सभी एक-से हैं, तुम सभीपर समान कृपादृष्टि रखते हो।'

भगवान् हँसे और बोले—'बुआजी! ऐसी झूठी बातें क्यों कह रही हो। कौरवोंकी अपेक्षा पाण्डव मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। पाण्डवोंके सम्बन्धसे मैं कौरवोंसे द्वेष करता था, जो पाण्डवोंके प्यारे हैं, उनसे मैं प्रेमका बर्ताव करता हूँ, फिर आप मुझे समदर्शी क्यों बता रही हैं?'

कुन्तीजी बोलीं—'लालजी, अब तुम नहीं छिप सकते, भला, तुम किससे द्वेष कर सकते हो और किससे प्रेम करते हो। प्राणी अपनी दृष्टिके ही अनुसार तुममें गुण-दोषोंका आरोप करते हैं। विषम दृष्टिवालोंको तुम विषम-से प्रतीत होते हो, समदृष्टिवालोंको सम। जैसे आँखोंमें लाल, पीला, हरा, नीला—जैसा भी काँच लगाकर देखेंगे, आकाश उसी रंगका प्रतीत होगा। वास्तवमें आकाशमें ये कोई भी रंग नहीं हैं, वह निर्लेप है। इसी तरह तुम प्रियता-अप्रियतासे पृथक् विषमतासे रहित, निर्विकार, निर्लेप हो, फिर भी लोग तुममें शत्रुता-मित्रताका आरोप करते ही हैं। तुम ऐसे-ऐसे कार्य करते हो कि देखनेवाले तुमको साधारण मनुष्य समझकर मोहित हो जाते हैं। वे समझ नहीं सकते कि तुम्हारी इस क्रीड़ाका रहस्य क्या है।

वैसे तो अजन्मा होनेपर भी तुमने जलचर, नभचर, देव, ऋषि, मनुष्य, तिर्यक्—यहाँतक कि परम निन्दित सूकरयोनितकमें अवतार धारण करके अद्भुत-अद्भुत क्रीड़ाएँ कीं, किंतु इस कृष्णावतारमें तो तुमने सभीको मोहित कर दिया। अपने अतुल ऐश्वर्यको छिपाकर भक्तवत्सलताके पीछे तुमने अपने महत्त्वको एकदम भुला दिया।'

भगवान् बोले—'बुआजी! अब अधिक मुझे आकाशमें मत चढ़ाओ। मेरा ऐश्वर्य और पराक्रम सभी जानते हैं। जरासन्धके डरसे डरकर अपनी परमपावन पैतृक राजधानीको छोड़कर हम अपने परिवारसहित छिपकर समुद्रके बीचमें रहते हैं, यह हमारा डरपोकपना जगत्-प्रसिद्ध है।'

कुन्तीजी कुछ हँसीं और फिर प्रेमभरी वाणीमें बोलीं—'लालजी! डरना कुछ तुम्हारे लिये नयी बात नहीं है। डरपोक तो तुम जन्मके ही हो। कंसके डरसे डरकर मथुराके कारावाससे गोकुल ग्वालबालोंके बीचमें आये और वहाँ आकर भी तुमने अपना ऐसा डरपोकपना दिखाया कि उसकी स्मृतिमात्रसे मेरे रोमाञ्च हो जाता है। हाय! कैसी तुम्हारी बाल-विडम्बना है। वहाँ तुमने अपना अतुल ऐश्वर्य छिपाकर कैसी भक्तवत्सलता दिखायी। मैं तुम्हारी सारी

लीलाओंको भूल सकती हूँ, किंतु वह लीला मुझे कभी नहीं भूलेगी, वह सदा मेरे नेत्रोंके सामने नाचती रहती है—गोकुलमें की हुई माखन-चोरीकी वह लीला।

तुमने माता यशोदाका बड़ा भारी अपराध किया था। युगादि-पुराना, सास-ससुरके सामनेका उसका दही-बिलोनेका माँट तुमने लोढ़ा मारकर पटसे फोड़ डाला, इसपर वह कुपित हुई और हाथमें छड़ी लेकर रस्सीसे तुम्हें बाँधने दौड़ी। हे दामोदर! तुमने कैसी मुद्रा बनायी। कैसी लीला दिखायी। डर भी जिसके डरसे थर-थर काँपता है, ऐसे होकर भी तुम माँके डरसे डरकर रोने लगे। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि भी घोर तप करके जिससे मुक्तिकी याचना करते हैं, ऐसे तुम माँसे हा-हा खाकर मुक्तिकी याचना करने लगे। उन कमलके समान विकसित बड़े-बड़े नेत्रोंसे, जिनमें यशोदाने रात्रिमें स्नेहवश बहुत-सा काजल लगा दिया था, उन्हीं कमलकोशोंसे ओसके समान अश्रुविन्दु बरसाकर माँके हृदयमें दयाका संचार करनेका ढोंग रचने लगे। कैसी वह तुम्हारी अद्भुत लीला थी, उस समय तुम सम्पूर्ण भुवनको भुलानेके लिये एकदम भोले-भाले बालक बन गये थे। भयसे त्रस्त होकर मुँह नीचा करके सूखे शिशुकी तरह खड़ी हुई तुम्हारी वह मनमोहिनी मूर्ति मेरी आँखोंमें नाचती हुई अब भी मेरे मनको मोहित-सी कर रही है। सोचती हूँ, क्या यही अखिल भुवनके एकमात्र स्वामी मेरे सर्वस्व श्रीकृष्ण हैं?

आपके अवतारका प्रयोजन क्या है, इसे आपके सिवा कोई जान ही नहीं सकता, सब अपना-अपना अधूरा अनुमान लगाते हैं। कोई तो कहते हैं, आपका अद्भुत अवतार युधिष्ठिरकी कीर्तिको बढ़ानेके लिये हुआ है, कोई कहते हैं, आप यदुवंशको अलङ्कृत करनेके लिये, उसकी सुन्दर सुखद सुरभि दिग्-दिगन्तमें फैलानेके लिये, उसी प्रकार प्रकट हुए हैं, जैसे मलयाचल पर्वतपर चन्दन उत्पन्न होता है। कोई कहते हैं पूर्वजन्ममें वसुदेव और देवकीने सुतपा और पृश्निके रूपमें तपस्या करके आपसे पुत्र होनेका वरदान प्राप्त किया था, उसी वरदानको पूर्ण करनेके लिये आप अवनिपर अवतरित हुए हैं। कोई-कोई कहते हैं कि आप धर्मकी स्थापना करनेके निमित्त, अधर्मको दूर करनेके लिये, साधुओंको सुख देनेके लिये और दैत्योंका नाश करनेके लिये सदा ही युग-युगमें जैसे अवतार धारण करते हैं, वैसे ही यह अवतार भी धारण किया है। किन्हींका मत है कि यह वसुन्धरा दैत्योंके पाप-भारसे भारी होकर नौकाके समान समुद्रमें डूबना ही चाहती थी, उसके उद्धारके निमित्त चतुर नाविकके समान अजन्मा होकर भी आप उत्पन्न हुए हैं।'

भगवान् हँसकर बोले—'बुआजी! सबका मत तो आपने बताया, किंतु आपका अपना मत क्या है? इनमेंसे आप मेरे प्रकट होनेका कौन-सा कारण समझती हैं?'

कुन्तीजी बोलीं—'लालजी! मेरा मत तो इन सबसे भिन्न ही है। ये सब तो आपके रास्ता चलते हुए तिनका छूनेके समान सामान्य कारण हो सकते हैं। आपके अवतारका मुख्य कारण तो मैंने यही समझा है कि आप एकमात्र अपने भक्तोंको सुखी करनेके लिये—उन्हें संसारी अविद्या, कामना और कर्मबन्धनोंसे बचानेके लिये ही आपकी यह लीला है।

भगवान् बोले—'इससे और कर्मबन्धनसे क्या सम्बन्ध? कर्मोंसे तो बन्धन होता है, इन संसारी चेष्टाओंके स्मरणसे तो संसार-बन्धन और दृढ़ होता है।'

कुन्तीजी बोलीं—'वासुदेव! आपकी चेष्टाएँ संसारी नहीं, अलौकिक हैं। आपके चारु चरित्र कर्म नहीं, कर्मोंके काटनेकी छेनी हैं। आपकी ललित लीलाएँ लोगोंके अशुभोंको दूर करनेवाली हैं। जो लोग आपकी लीलाको बार-बार श्रद्धासहित श्रवण करते हैं, जो गुणी लोग ललित गीतोंद्वारा तान-मूर्छना-लयके सहित आपका गुण-गान करते हैं, जो सत्पुरुष स्तोत्रोंद्वारा आपकी लीलाओंका—गुणोंका स्तवन करते हैं, जो आपके दिव्य कर्मोंका स्मरण करते हैं, उन्हें आपके उन पादपद्मोंके देवदुर्लभ दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त होता है, जिनके दर्शन करनेसे संसारका आवागमन छूट जाता है।'

भगवान् बोले—'बुआजी! आपने आज तो मुझे बहुत बढ़ा-चढ़ा दिया। आपका अभिप्राय क्या है?'

कुन्तीजी बोलीं—'मेरा क्या, जीवमात्रका एकमात्र यही अभिप्राय है कि तुम्हारे चरणोंके दर्शन होते रहें। देखो! तुम द्वारका जा रहे हो न! आज अशकुन हो गया, यात्राके समय केश खोले भयभीत स्त्री और विशेषकर विधवा सामने आ जाय तो उस दिनकी यात्रा स्थगित कर देनी चाहिये। आज मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगी।

भगवान् बोले—'देखो बुआजी ! वहाँ भी बहुत-से कार्य हैं। ये शकुन-अपशकुन तो लगे ही रहते हैं, मैं सदा थोड़े ही रह सकता हूँ। एक दिन तो जाना ही होगा। आज न सही कल, वियोगका दुःख तो सहना ही है। मैं फिर आता ही रहूँगा। जब भी आपका संदेश पहुँचेगा, उसी क्षण मैं उपस्थित हो जाऊँगा।'

कुन्तीजी बोलीं—'कृष्ण ! तुम सचमुच हमें छोड़ जाओगे क्या ? हे भक्तवत्सल ! हमारा और सहारा कौन है ? हमारे तो सम्बन्धी, सुहृद्, स्वामी, सर्वस्व तुम ही हो। आज पृथ्वीभरके सभी राजा हमारे वैरी बन गये हैं, युद्धमें हमने उनके बन्धु-बान्धवोंका वध किया है। बस, एकमात्र तुम्हारे चरण-कमलोंका ही भरोसा है, उन्हींके आश्रयसे हम जी सकते हैं। नहीं तो, आज सारा जगत् हमारे विरुद्ध हो रहा है। तुम्हारे बिना हमारी इस राजधानीकी शोभा ही क्या है। जैसे पतिके बिना पतिव्रताकी शोभा नहीं, जैसे इन्द्रियोंके रहते हुए भी यदि शरीरमेंसे प्राण निकल जायँ तो वह शरीर किसी कामका नहीं रहता, उसी प्रकार पाण्डवों और यादवोंकी सत्ता तुम्हारे बिना रह ही क्या जायगी। इस पृथ्वीकी एकमात्र शोभा विलक्षण लक्षणोंसे युक्त तुम्हारे चरणारविन्द ही हैं। जैसे चन्द्रमाके बिना रात्रिकी शोभा नहीं, जलके बिना नदीकी शोभा नहीं, कमलोंके बिना सरकी शोभा नहीं, पंखोंके बिना पक्षियोंकी शोभा नहीं, स्वामीके बिना स्त्रीकी शोभा नहीं, सिंदूरके बिना सुहागिनीकी शोभा नहीं, उसी प्रकार तुम्हारे चरणोंके बिना इस हरी-भरी, सुपक्व औषधि-लता-वृक्षोंसे सम्पन्न, सब प्रकारसे समृद्धियुक्त, वन, पर्वत, नदी और समुद्र-सहित पृथ्वीकी शोभा नहीं। इन सबकी अभिवृद्धि तुम्हारी दयादृष्टिसे ही हो रही है। तुम हमें छोड़कर जाओ नहीं। तुम्हारे बिना हमारे प्राणोंकी रक्षा कौन करेगा।'

भगवान् बोले—'बुआजी ! यह तो आप सब मोह-ममताके वशीभूत होकर कह रही हैं कि ये मेरे पुत्र हैं, पौत्र हैं, ये मेरे भाईके पुत्र हैं, पौत्र हैं। इन पाण्डवों और यादवोंमें आपका अत्यधिक मोह है।'

कुन्तीजी बोलीं—'हे वासुदेव ! यदि मेरा मोह ही है तो उसे छुड़ानेवाले भी तो तुम्हीं हो। तुम्हें छोड़कर इस मोह-ममताको और कौन काट सकता है। कौन इस दृढ़ बन्धनको शिथिल करनेमें समर्थ है। हे विश्वम्भर ! हे विश्वात्मन् ! हे विश्वरूप ! मेरी ममताको मेट दो। पाण्डवों और यादवोंमें कसी हुई इस दृढ़ शृङ्खलाको छिन्न-भिन्न कर दो।

'बस, अब विशेष विनय न करूँगी। अब तुमसे मेरी एक ही अन्तिम प्रार्थना है। जैसे भगवती भागीरथीका प्रवाह निरन्तर समुद्रकी ही ओर वेगके साथ बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे चित्तकी वृत्तियाँ तुम्हारे चरणोंकी ओर लगी रहें। सब ओरसे हटकर मेरा मन तुम्हारी ही ओर दौड़ता रहे। तुमको छोड़कर मुझे किसी दूसरेकी चिन्ता न हो।'

इतना कहकर महारानी कुन्ती चुप हो गयीं। उनकी आँखोंमें प्रेमाश्रु अब भी डबडबा रहे थे। मुनियो ! जब कुन्तीने इस प्रकार मधुसूदनकी स्तुति की, तब श्यामसुन्दर मंद-मंद मुसकराये। उनकी मुसकानमें ही तो मादकता है। जगत्को उन्मादित करनेवाली माया ही तो उनकी हँसी है। जहाँ ये हँस पड़े, वहीं मायाका विस्तार हो गया !

बड़े प्रेमसे अपनी बुआसे बोले—'अच्छी बात है, तुम मना करती हो तो मैं नहीं जाता। चलो, हस्तिनापुर चलें। यह कहकर सबके साथ श्यामसुन्दर महलोंमें आ गये। अब रोज ही जानेकी तैयारियाँ होतीं, रथ तैयार होकर द्वारपर आ जाता; कभी महाराज युधिष्ठिर कहते—'वासुदेव ! आज तो मैं नहीं जाने दूँगा। आज नक्षत्र ठीक नहीं, आज दिशाशूल है, आज अब देर हो गयी।' कभी सुभद्रा कहती 'भैया ! आज नहीं।' फिर कुन्ती बुआकी बारी आती—'अरे, आज तो किसीने छींक दिया, सामने देखो, रीते घड़े आ गये। आज नहीं।' इस प्रकार आज-कल करते छः महीने श्यामसुन्दर और रहे।

इस प्रकार शत्रुओंको मारकर, महाराज युधिष्ठिरको समझा-बुझाकर सिंहासनपर बिठाकर, भीष्मपितामहसे धर्मराजको उपदेश दिलाकर, उन्हें सद्गति देकर, परीक्षित्को रक्षा कर भगवान् द्वारकापुरीको चले गये और वहाँ बड़े सुखपूर्वक रहने लगे।

भगवान्‌के दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन (२)

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

भगवान्‌का पद्मके साथ बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनके चरण, कर, नेत्र, नाभि, मुख सभी अङ्गोंको पद्मकी उपमा दी गयी है। उनकी नाभि-कमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति मानी गयी है। उनके दिव्य विग्रहकी गन्ध भी पद्मकी गन्ध-सी ही है, यद्यपि वह गन्ध लौकिक पद्म-गन्धसे विलक्षण है।

भगवान्‌के चरणका विस्तार चौदह अङ्गुल माना जाता है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि चौदह अङ्गुल परिमाणके चरणतलमें सारा विश्व कैसे समा जाता है। बात यह है कि जब भगवान्‌के संकल्पमें सारी सृष्टि समायी रहती है, फिर उनके चरणमें विश्व रहे, इसमें कौन आश्चर्यकी बात है। यही है योगेश्वरका योग। चरणचिह्नकी संख्या कुछ लोगोंने ३२, कुछने ३६, कुछ लोगोंने ५६, कुछ लोगोंने ६४ और कुछ लोगोंने १०८ मानी है, जिनमेंसे चार प्रधान चिह्नोंका संक्षिप्त वर्णन ऊपर हो चुका। ये चार चिह्न श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीविष्णु सभी विग्रहोंमें रहते हैं। शेष चिह्नोंमें कुछ आयुध हैं—जैसे धनुष, बाण, असि, बरछी, शक्ति, शूल, गदा और चक्र (यह विष्णु भगवान्‌का चिह्न है)। पशुओंमें अश्व, हाथी और हरिन हैं, नक्षत्रोंमें सूर्य तथा चन्द्र हैं, ऋषियोंमें नारद हैं, पुष्पोंमें दिव्य पुष्प, जलचरोंमें मीन, सर्पोंमें शेषनाग, पक्षियोंमें गरुड़, वाहनोंमें रथ, फलोंमें कदम्बका फल, स्वर्गके पदार्थोंमें उर्वशी, कामधेनु और कल्पवृक्ष, पर्वतोंमें सुमेरु, यहाँके वृक्षोंमें अश्वत्थ, राजचिह्नोंमें छत्र-चमर और सिंहासन (विष्णु भगवान्‌के चरणोंमें रहता है)। वस्त्रोंमें पीताम्बर, आभूषणोंमें बाजूबंद, वाद्योंमें मुरली और वीणा, पात्रोंमें स्वर्णकुम्भ और देवताओंमें ब्रह्मा हैं। इनके अतिरिक्त स्वस्तिक, अग्निकुण्ड, बलि, ऊर्ध्वरेख, त्रिकोण, अष्टकोण, नवकोण, दर्पण, घंटिका, महल, शङ्ख, तिल एवं जौके चिह्न हैं। तिल, अथवा स्वधा पितृलोकका प्रतीक है और स्वाहा देवलोकका प्रतीक है। इनके अतिरिक्त भगवान्‌के चरणोंमें एक और विशेषता यह है कि उनके दाहिने चरणमें उनकी शक्ति (श्रीकृष्णके चरणमें श्रीराधा, श्रीरामके चरणमें श्री-जानकी और श्रीविष्णुके चरणमें श्रीलक्ष्मी) रहती हैं। और इनका आकार इन सारी वस्तुओंका बना हुआ रहता है। चक्र, चामर, लता आदिके चिह्न श्रीराधिकाजीके चरणोंमें रहते हैं।

कोई यह कहे कि छोटे-से चरणोंमें ये सब चीजें यथा-स्थान अपने-अपने आकारमें कैसे रहती हैं तो इसका उत्तर यह है कि इस प्रकारकी बात तो प्राकृतिक संसारमें भी सम्भव है। उदाहरणतः हम एक छोटे-से प्लेटमें बड़े-से-बड़े मकान, पहाड़, नदी, समुद्र आदिका भी फोटो ले सकते हैं और उस प्लेटके अंदर मकान आदिका आकार बहुत छोटा होनेपर भी देखनेमें बहुत बड़ा लगता है। जब भौतिक संसारमें भी ऐसी बात सम्भव है, तब भगवान्‌के लिये कौन-सी बात असम्भव है। जिनकी मायाको ही शास्त्रोंमें अघटन-घटनापटीयसी आदि विशेषणोंसे विशेषित किया है। वे आकाशमें अनवकाश और अनवकाशमें अवकाश कर सकते हैं। वे भ्रूविलास-मात्रसे सृष्टिको रच देते हैं और फिर उसी प्रकार उसे अपनेमें विलीन कर लेते हैं। वे चाहें तो एक सूईके छेदमेंसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंको ज्यों-का-त्यों निकाल सकते हैं। ऐसा करनेके लिये उन्हें सूईके छिद्रोंको बड़ा करने अथवा ब्रह्माण्डोंके आकारको छोटा करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। यही तो उनका ऐश्वर्य है। इस प्रकारकी कुछ आंशिक सिद्धियाँ तो योगियोंतकमें पायी जाती हैं। जैसे बहुत-से योगी केवल (आकाश) वायुतत्त्वका शरीर रचकर दीवालको बिना फोड़े हुए उसमेंसे निकल सकते हैं। परंतु योगियोंकी गति पञ्चभूतोंतक ही सीमित है। उनसे आगे वे नहीं जा सकते। परंतु भगवान् जो चाहें सो कर सकते हैं।

सारांश यह कि ऊपर बतायी हुई सारी वस्तुएँ अपने असली रूपमें और चेतन होकर भगवान्‌के चरणोंमें रहती हैं—जिस प्रकार अर्जुनके रथमें श्रीहनुमान्‌जी साक्षात् रूपसे ध्वजाके ऊपर रहते थे। यों तो यह भौतिक सारा जगत् भी परमात्मारूप होनेके नाते चेतन ही है; यहाँ जो कुछ जड़ रूपमें दिखलायी देता है, वह वास्तवमें चेतन ही है, किंतु यह बात ज्ञान-दृष्टिसे कही जाती है। केवल भगवान्‌के तत्त्वको जाननेवालोंको ही सारा जगत् चेतन-रूप दिखायी देता है, अज्ञानियोंको नहीं। परंतु भगवान्‌से सम्बन्ध रखनेवाली

प्रत्येक वस्तु लौकिक नेत्रोंसे भी चेतन दिखलायी देती है; यद्यपि जिन नेत्रोंके सामने भगवान्‌का विग्रह प्रकट होता है वे नेत्र लौकिक होते हुए भी दिव्य भावापन्न हो जाते हैं। जब सारा जड़-चेतन संसार भगवान्‌के चरणोंमें समाया हुआ रहता है, तब इतने चेतन पदार्थ एक साथ उनके अंदर रहें, इसमें आश्चर्य ही क्या है। **'तद्विष्णोः परमं पदम्'** —ऐसा उपनिषदें कहती हैं। सब कुछ भगवान्‌के चरणोंमें ही है। सारी विभूतियाँ उनके चरणोंमें प्राप्त हो सकती हैं।

ऊपर जितने चिह्न गिनाये गये हैं, सब सार्थक हैं। उनमें एक भी व्यर्थ नहीं है। उन सबमें गूढ़ रहस्य भरा हुआ है। चरणोंमें इतने सारे चिह्न धारण करनेमें भगवान्‌के दो प्रधान हेतु हैं—एक तो यह कि जिसमें सारा विश्वका नमूना एक जगह आ जाय। इसीलिये ऋषि, मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, नक्षत्र, आयुध, आभूषण, वृक्ष, पर्वत, वस्त्र, राजचिह्न, वाद्य, पात्र, फल, फूल—सभी वर्गोंमेंसे एक-एक वस्तु चुनी गयी है। दूसरा हेतु जिसका सम्बन्ध खासतौर पर भक्तोंसे है, यह है कि यद्यपि भगवान्‌के चरणोंको हृदयके ऊपर स्थापित करनेका प्रत्येक भक्तको अधिकार नहीं है (केवल उनकी प्रेयसियोंको ही यह अधिकार प्राप्त है), वह भक्तके हाथकी बात नहीं है, तथापि उनको हृदयके भीतर ले आनेकी तो प्रत्येक भक्तमें सामर्थ्य है ही। ऐसी दशामें जो भगवान्‌के चरणोंको हृदयमें रख लेता है, उसके हृदयमें उन चरणोंके साथ ये सभी पदार्थ अपने आप आ जाते हैं—जिस प्रकार रत्नोंसे भरे हुए पात्रको अपने घरपर ले आनेपर उस पात्रके साथ-साथ वे रत्न अपने-आप आ जाते हैं। सारे विश्वका ऐश्वर्य और माधुर्य उन चरणोंके साथ-साथ भक्तके हृदयमें आ जाता है; क्योंकि भगवान्‌के चरण सारे ऐश्वर्य और माधुर्यके स्रोत हैं। प्रेमाभक्तिके आचार्य स्वयं नारदजी उन चरणोंके साथ हृदयमें आ जाते हैं, तब वह भक्त प्रेमाभक्तिसे कैसे वञ्चित रह सकता है। स्वस्तिकका चिह्न शुभका प्रतीक है। सर्वतोदिश मङ्गलका द्योतक है। अतः जो शुभ चाहनेवाला है उसके हृदयमें स्वस्तिक प्रवेश कर उसका सब प्रकारसे कल्याण करता है। उपर्युक्त पदार्थ सब दिव्य धामके हैं और भगवान्‌के ही रूपमें वे सारी शक्तियोंको लेकर हमारे हृदयमें आते हैं। अतः योगसिद्धियोंसे भी अधिक सिद्धियाँ उसे प्राप्त होती हैं, जिसके हृदयमें भगवान्‌के चरण आ जाते हैं; क्योंकि सारी शक्तियोंके स्रोत भगवान्‌के चरण हैं। जब, सारी शक्तियोंका आधार ही हृदयमें आ गया तब शेष शक्तियाँ कैसे बाकी रह सकती हैं। योगी उन शक्तियोंके किसी अंशको प्राप्त होकर उनका उपयोग करता है। किंतु भक्त भगवान्‌के प्रेममें मस्त होकर शक्तियोंको भूल जाता है। इसके ज्वलन्त उदाहरण हमारे सामने भक्तश्रेष्ठ श्रीहनुमानजी हैं। उनमें सब प्रकारकी शक्ति होते हुए भी उसकी उन्हें सर्वथा विस्मृति रहती थी। जाम्बवान् आदिके द्वारा उस शक्तिका स्मरण दिलाये जानेपर महान् शक्तिमान् हो जाते थे। ईश्वरीय शक्ति रहती है भगवान्‌के चरणोंमें। उन चरणोंमें जिनका मन लग गया, उसके अंदर वह शक्ति क्रमशः उतर आती है। और जिसके मनमें वे चरण एक बार स्वयं प्रवेश कर जाते हैं फिर वे वहाँसे हटते नहीं। ऐसा भक्त अतुल शक्तिशाली हो जाता है। सारी शक्तियाँ उसकी आज्ञावाहिनी होकर उसके सामने हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं; किंतु वह उनकी ओर ताकता भी नहीं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

> **न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं**
> **न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।**
> **न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा**
> **मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनान्यत्॥**
> (११। १४। १४)

यहाँ एक बात और ध्यान देनेकी है; वह यह है कि भगवान्‌के चरणोंमें जितनी वस्तुएँ ऊपर गिनायी हैं वे सब-की-सब भक्तके हृदयमें भगवान्‌के चरणोंका प्रवेश होते ही अपनी-अपनी क्रिया प्रारम्भ कर देती हैं। उदाहरणतः भगवान्‌के चरणोंमें जो सूर्य है उसके चरणोंके साथ हृदयमें प्रवेश होते ही भक्तके हृदयका सारा अन्धकार विलीन हो जाता है। इसी प्रकार चरणगत चन्द्रमाके प्रवेश होते ही भक्तके हृदयमें अमृतकी वर्षा शुरू हो जाती है, जिससे उसके सारे पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं। कामधेनुके प्रवेश होनेसे वासना हृदयमें उठनेसे पहले ही पूर्ण हो जाती है। कल्प-वृक्षके प्रवेश होनेसे मनमें किसी प्रकारका संकल्प रह ही नहीं जाता। उर्वशी जो भगवान् नारायणके शरीरसे उत्पन्न हुई है, उसके हृदयमें प्रवेश करते ही सौन्दर्यकी सांसारिक वासना नष्ट हो जाती है। ज्ञान-वैराग्य सब आ जाते हैं। वज्रके आनेसे पापोंके पहाड़ बात-की-बातमें नष्ट हो जाते हैं। चरणोंके अंदर जो शक्ति नामका आयुध है, उसके

सामने पाप-तापकी सारी शक्तियाँ क्षीण-बल हो जाती हैं। भगवान् वंशीको अपने चरणोंमें इसीलिये रखते हैं कि वह सांख्ययोग, निष्कामकर्म और शरणागतिका मूर्तरूप है। वंशीरव इतना मनोमुग्धकारी है कि उसके सुननेमात्रसे ही **'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'** इस भगवद्वाक्यका स्वरूप स्वतः सिद्ध हो जाता है। सारे धर्मोंका परित्याग फिर करना नहीं पड़ता। वह अपने-आप हो जाता है। लोकधर्म, वेदधर्म और देहधर्म सब वंशीके अमृतद्रवमें धुलकर साफ हो जाते हैं, बह जाते हैं। वंशी देखनेमें जड़ बाँसकी बनी हुई प्रतीत होनेपर भी थी कोई सिद्ध भक्ता, जिसने लौकिक दृष्टिमें जड़ बन कर भी भगवान्के अधरमें, करकमलोंमें तथा टेरमें नित्य आश्रय प्राप्त किया था। मनुष्य तो क्या किसी देवताको भी यह सौभाग्य मिल जाय तो क्या वह इसे छोड़ना चाहेगा? जिस भूमिपर भगवद्भक्तोंके पैर पड़ते हैं; ब्रह्मादिक देवता तो उस भूमिके लतागुल्मादि बननेमें भी अपना सौभाग्य मानते हैं। कुछ प्रेमी चाहते हैं कि हम दर्पण बन जायँ जिसमें मनमोहन अपने जगन्मोहन-रूपको निरखते रहें। एक प्रेमी भक्तने उस वृक्षकी डाल बननेकी कामनाकी है। जिस डालपर झूला डालकर प्रिया और प्रियतम झूलते हैं। इसपर वेदान्ती लोग आक्षेप किया करते हैं कि भक्त लोग चेतनसे जड़ बनना चाहते हैं। वे लोग भूलते हैं। वास्तवमें मुरली आदि वाद्य तथा भगवान्के आयुध, आभूषण, वस्त्र आदि सभी चेतन एवं भगवान्के नित्य परिकरोंमें हैं, जो सदा भगवान्के साथ रहकर भगवान्की सेवामें संलग्न रहते हैं।

एक बार किसी गोपीने भगवान्की वंशीसे पूछा कि तूने ऐसा कौन-सा तप किया है जिसके कारण तू सदा भगवान्के अधरामृतका पान करती है। इसपर मुरलीने कहा कि मैंने अपने हृदयको एकदम खोल दिया है——अहंकारशून्य कर दिया है। भगवान् जैसा सुर मेरे अंदर भरते हैं वही राग मैं अलापने लगती हूँ, मैं अपनी बुद्धिका प्रयोग नहीं करती। अमुक राग बजाओ, ऐसा नहीं कहती। अहा! अचेतन होनेपर भी मुरलीने इस प्रकारका जड़त्व ग्रहण कर लिया था, तभी तो उसे ऐसा सौभाग्य प्राप्त हुआ था, जिसे देखकर भगवान्की अति प्रेयसी व्रजाङ्गनाओंको भी ईर्ष्या होती थी। इससे यह सूचित होता है कि मुरलीमें सारा ज्ञान और कर्म भरा है। उसमें कामका और फलासक्तिका ही त्याग नहीं है, अहंकारका भी पता नहीं है। जिसे सांख्यमार्गके द्वारा सिद्धि प्राप्त करनी है वह मुरलीसे सांख्यकी दीक्षा ले, निष्काम-कर्म सीखना हो मुरलीसे सीखे। इसीलिये ये भगवान् इसे अपने चरणतलमें रखते हैं।

इसके अतिरिक्त एक महत्त्वकी बात और है, वह यह है कि मुरलीका केवल मनुष्योंपर ही नहीं, जड़-चेतन सबपर समान रूपसे अक्षुण्ण प्रभाव पड़ता है। उसके रवको सुनकर जड़चेतन और चेतन जड़ हो जाते हैं। वृक्षोंसे रस टपकने लगता है। सूखी लकड़ियाँ भी गीली हो जाती हैं। शुष्क हृदय रसमय बन जाता है। जिस समय भगवान्की वह अनोखी मुरली व्रजमें बजती थी, लाखों गायें और बछड़े उन्हें घेर कर खड़े हो जाते थे और स्तब्ध एवं निश्चेष्ट होकर उस शब्दको सुनते थे। यहाँ कोई यह आश्चर्य न करे कि व्रजमें लाखों गायें कहाँसे आयीं? जिसके पास नौ लाख गायें होती थीं उसकी नन्द संज्ञा होती थी, और उससे कुछ कम संख्याकी गायें जिसके पास होती थीं वह उपनन्द कहलाता था। इस प्रकारके उपनन्द तो गोकुल और वृन्दावन-में अनेक थे। उन सबकी गायें एकत्र होकर व्रजकी वनभूमिमें गोप-बालकोंकी देख-रेखमें चरने जाती थीं और नन्दनन्दन उन सबोंके नेता थे। जिस समय वे अपनी उस मुरलीमें सुर भरते सब-की-सब गाएँ और बछड़े दूर-दूरसे वंशी-रवको सुनकर दौड़े आते और सब कुछ भूलकर उस वंशी-रवको सुननेमें तल्लीन हो जाते थे। उस समय उन सारे पशु-पक्षियोंतकका बिना किसी प्रकारका प्रयत्न किये योग सध जाता था। गायं चरना भूल जातीं और बछड़े अपनी माताओंका दूध पीना छोड़ देते थे। जो जिस अवस्थामें होता उसी अवस्थामें सन्न-सा होकर रह जाता। सारी क्रिया उसकी बंद हो जाती। हिलना-डुलना तक बंद हो जाता। उस अलौकिक कर्ण-रसायनके कानोंमें आते ही आत्यन्तिक तृप्ति हो जाती थी। इससे यह भाव लेना चाहिये कि जिसके हृदयमें भगवान्के चरणोंके साथ वह मुरली आ गयी, उसमें उस मुरलीके गुण आ जाते हैं; अर्थात् उसका मनरूप पक्षी इधर-उधर उड़ना छोड़कर स्थिर हो जाता है। उसकी इन्द्रियरूप गाएँ अपने-आप वशमें हो जाती हैं। उन्हें फिर रोकनेके लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसीलिये श्रीमद्भागवत-के योगीश्वर हरिने जनकसे भक्तके लिये कहा है कि 'वह आँख मूँदकर भी यदि दौड़े, तब भी उसे गिरने अथवा लड़खड़ाने-का डर नहीं रहता—(**धावन्निमील्य वा नेत्रे न पतेदिह च स्खलेति**)। बात यह है कि जिसके मन-इन्द्रिय वशमें हों, वही

*

आँख मूँदकर दौड़ सकता है और उसके गिरनेका भय नहीं रहता। यह बात तो हम संसारमें भी देखते हैं। जिस सवारका घोड़ा सधा हुआ होगा, वह सोते हुए सवारको भी निर्विघ्नता-पूर्वक इष्ट स्थानपर पहुँचा देगा। ऐसे उदाहरण घोड़ों और बैलोंके सम्बन्धमें कई देखनेमें आते हैं।

एक भाव मुरलीका और है। वह यह है कि मुरली केवल भगवान्‌के पास रहती है। उसे भगवान्‌का ही स्वामित्व स्वीकार है। कभी-कभी सखियाँ उसे चुरा अवश्य लेती हैं, परंतु अधिकार उसपर नन्दनन्दनका ही रहता है। इसी प्रकार हमलोग भी वास्तवमें भगवान्‌के ही हैं। हमारे ऊपर भगवान्‌का अस्तित्व रहना चाहिये; हमें उन्हींका होकर रहना चाहिये और इस बातके लिये सतर्क एवं सचेष्ट रहना चाहिये कि हमारे ऊपर किसी अन्यका प्रभुत्व न होने पावे। गोस्वामी तुलसीदासजीने विनयपत्रिकामें भगवान्‌से यही प्रार्थना की है कि यह हृदय आपका मन्दिर है। इसे काम-क्रोधादिक डाकू लूटे डालते हैं, इन्हें हटाकर यदि आप इसपर कब्जा नहीं कर लेगें तो इसमें आपकी बदनामी होगी।

कह तुलसिदास सुनु रामा। तस्कर लूटहिं तव धामा॥
चिंता यहि मोहि अपारा। अपजस नहिं होय तुम्हारा॥

मुरली भगवान्‌की ही होकर रहती है; इसलिये भगवान् उसे क्षणभरके लिये भी नहीं छोड़ते। बस, उसी प्रकार यदि तुम भी भगवान्‌के ही होकर रहोगे तो तुम्हें भी भगवान् कभी नहीं छोड़ेंगे, सदा अपने पास रक्खेंगे—यही मानो मुरली हमें शिक्षा दे रही है। इस प्रकारके भाव केवल कल्पना-प्रसूत नहीं हैं, ढूँढ़नेपर शास्त्रोंमें मिल सकते हैं और संतोंका अनुभव भी ऐसा है। और-और चिह्नोंका भी इसी प्रकारका भाव बताया जा सकता है। (क्रमशः)

त्यागने योग्य

(एक संतका प्रसाद)

[गताङ्क ६, पृ० ३३ से आगे]

१२—काम, क्रोध, लोभ, मोह—ये जीवके प्रधान शत्रु हैं। अतः इनसे सर्वदा बचना चाहिये। ये ज्ञान, भक्ति, वैराग्य आदि सभीको नष्ट कर देते हैं। कहा भी है—

काम बिगाड़े भक्ति को, ज्ञान बिगाड़े क्रोध।
लोभ विराग बिगाड़हि, मोह बिगाड़े बोध॥

१३—अधिक सोना, अधिक बोलना और अधिक खाना—ये तीन बातें अधिकतर संसारी पुरुषोंमें होती हैं। यदि ये तीन बातें छोड़ दी जायँ तथा और कोई साधन न भी किया जाय तो भी सत्त्वगुण आ जायगा। इनके अथवा इन छः बातोंके त्यागनेसे भी सत्त्वगुणकी वृद्धि हो सकती है—(१) विशेष भोगोंमें लगना, (२) सांसारिक पुरुषोंसे प्रेम करना, (३) बहुत बोलना, (४) बहुत खाना, (५) बहुत सोना और (६) आपसमें हँसो-मजाक करना।

१४—रागसे क्रोध होता है, अतः रागको निवृत्त करना चाहिये। जिस प्रकार धूएँसे आग, दर्पणके मैलसे प्रतिबिम्ब और झिल्लीसे गर्भ ढका रहता है, वैसे ही रागसे क्रोध आच्छादित है। यहाँ ये तीन दृष्टान्त, तीन प्रकारकी प्रकृतिके पुरुषोंकी दृष्टिसे दिये गये हैं। तमोगुणी पुरुषका क्रोध धुएँसे छिपी आगके समान है। जैसे आग फूँक मारनेसे ही प्रज्वलित हो जाती है, वैसे ही तमोगुणी पुरुषका क्रोध सहजमेंही प्रकट हो जाता है, रजोगुणी पुरुषका क्रोध मलसे आच्छादित दर्पणके प्रतिबिम्बके समान है। इसके प्रकट होनेके लिये थोड़ा प्रयत्न करना पड़ता है। सत्त्वगुणी पुरुषका क्रोध झिल्लीमें छिपे गर्भकी तरह है, जो एकाएक प्रकट नहीं होता, प्रायः अन्तःकरणके भीतर ही रहता है।

१५—राग तो केवल भगवान् या आत्मामें ही होना चाहिये, और कहीं नहीं।

१६—आज-कलके ज्ञानी और भक्त अभ्यास या भजनकी आवश्यकता ही नहीं समझते, किंतु घरके धन्धेको छोड़ नहीं पाते। ज्ञानी उसे अन्तःकरणका धर्म बताकर और भक्त भगवान्‌का काम कहकर करते रहते हैं। इस प्रकार कर्मकाण्डी अपनी कर्मठताके अभिमानमें डूबे रहते हैं। इसीसे इन तीनोंका पतन होता है।

१७—जिनमें ये दस दोष हों उन्हें पापी समझना चाहिये—(१) चोरी, (२) हिंसा, (३) व्यभिचार, (४) झूठ, (५) चुगली, (६) परधनकी इच्छा,

(७) परका अनिष्ट-चिन्तन, (८) अश्लील भाषण, (९) असम्बद्ध प्रलाप और (१०) देहाभिमान ।

१८–निन्दा करनेवालेकी अपेक्षा निन्दा सुननेवाला अधिक पापी होता है । थोड़े दिन भी निन्दा सुनता रहे तो अन्तःकरण मलिन हो जाता है ।

१९–निन्दक, हिंसक और शठ–इन तीनों*के प्रति क्रोध न करे ।

२०–ये छः बातें साधकका पतन कर देनेवाली हैं—(१) गुरुको मनुष्य समझना, (२) भगवान्के विग्रहमें पाषाणबुद्धि करना, (३) मन्त्रको केवल शब्द समझना, (४) चरणोदकको सामान्य जल जानना, (५) महाप्रसादको केवल अन्न मानना और (६) साधुकी जातिपर दृष्टि रखना, उसका प्रेम न देखना ।

२१–जबतक विषयोंमें भोगबुद्धि है तबतक सुख नहीं । संसारमें सद्बुद्धि होनेसे ही संसारमें सुख जान पड़ता है । जब उपास्यदेवमें सद्बुद्धि हो जाती है तो संसारमें सुख नहीं रहता । संशय-बुद्धिवालेको तो न संसारमें सुख है और न उपास्यदेवमें । जबतक विषयोंसे पूर्ण विरक्ति नहीं होती तबतक उपास्यदेवमें पूर्ण आसक्ति भी नहीं होती । रामायणका आशय है कि पूर्णतया रामाकार वृत्ति हो जाय और भागवतका आशय है कि सर्वथा कृष्णाकार वृत्ति हो जाय । किंतु जो थोड़ा भी साधनमें लग गया है उसे संशयात्मा नहीं कह सकते । संशयात्मा तो उस उद्दण्डका ही नाम है जिसका कहीं भी विश्वास नहीं है ।

२२–इच्छा दो प्रकारकी होती है—काम्यमान और भुज्यमान । वस्तु सामने न होनेपर जो सुन-सुनाकर ही भोगनेकी इच्छा होती है उसे काम्यमान इच्छा कहते और वस्तु सामने आनेपर जो भोगनेकी इच्छा होती है उसे भुज्यमान इच्छा कहते हैं, इन दोनों ही प्रकारकी इच्छाओंको त्याग देना चाहिये । यदि मनमें कोई इच्छा रखकर भजन किया जायगा तो इससे इच्छाकी ही पुष्टि होगी । इच्छाकी निवृत्ति तो इष्टाकार वृत्ति होनेसे ही होती है ।

२३-विष और विषय दोनों ही त्याज्य हैं । इनमें विषके तो खानेसे मृत्यु होती है, किंतु विषयके तो स्मरणसे ही पतन हो जाता है ।

२४–अन्तःकरणकी शीतलता काम, क्रोध, लोभ, मोहसे दब जाती है और एक आग-सी उत्पन्न होती है, जो पहले शरीरको गर्म करती है और फिर वाणीको । यह आग ही क्रोध है । शास्त्रमें काम और क्रोध इन दोनोंको अग्नि ही कहा है ।

२५–पापी पुरुष चाहे जप करे अथवा ध्यान, भले ही ज्ञानी हो जाय, तो भी पतित ही रह जायगा । पापीका उद्धार अत्यन्त कठिन होता है, अतः पापात्मासे सदा दूर ही रहना चाहिये ।

२६–माँगनेसे पाँच चीजें चली जाती हैं—ह्री (लज्जा), श्री (लक्ष्मी), धी (बुद्धि) तथा ज्ञान और सम्मान । अतः कभी किसीसे कोई चीज माँगो मत ।

२७–मनके तीन दोष मुख्य हैं । इनसे छूटनेका यथासाध्य प्रयत्न करना चाहिये । वे हैं—तृष्णा, द्वेष और क्रोध । तरह-तरहके तुच्छ विषयोंकी आशा रखना तृष्णा है । दूसरेके दोषोंपर दृष्टि रखनेसे द्वेष बढ़ता है और अपनी किसी इच्छामें व्याघात होनेसे क्रोध होता है । अतः दोष-दृष्टि और इच्छाओंके त्यागसे इनका त्याग भी हो सकता है ।

२८–परनिन्दा, मिथ्याभाषण और कटुभाषण—ये वाणीके दोष हैं; यथासम्भव इन्हें दूर करनेका प्रयत्न करो । चोरी, व्यभिचार और हिंसा—ये शरीरके दोष हैं, इनसे भी सर्वदा बचते रहो ।

२९–संसारमें मुख्य रोग है राग, जो दूर भी रागसे ही होता है । सांसारिक वस्तुओंमें राग होना ही मोह है । इसकी निवृत्तिका साधन है भगवत्प्रेम । धर्म या कर्मकाण्डमें जो राग होता है उसे श्रद्धा कहते हैं और भगवान्में राग होना ही प्रेम है । जबतक भगवान्से अतिरिक्त कोई और वस्तु दिखायी देती है तबतक पूर्ण प्रेम नहीं कहा जा सकता । जब केवल भगवान् ही रह जायँ तभी पूर्ण प्रेम समझना चाहिये ।

३०–चित्त छः जगह फँस जाता है—(१) भोजन, (२) वस्त्र, (३) धन और (४) स्त्रीमें मुख्य रूपसे तथा (५) स्थान और (६) शास्त्रमें गौण रूपसे । जो चित्त इन छहों स्थानोंमें न फँसे उसपर विश्वास किया जा सकता है । (पूर्ण)

* अर्थात् जो अपनी निन्दा, अपनी हिंसा और अपने प्रति शठता करनेवाले हैं ।

साधकोंके प्रति—

(शरीरसे अलगावका अनुभव)

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

भगवान्‌ने मनुष्योंको कल्याणकी सामग्री बहुत दी है और उम्र भी बहुत ज्यादा दी है। मिनटोंमें—थोड़े समयमें कल्याण हो जाय, उसके लिये वर्षोंकी बहुत उम्र दी है। विचार-शक्ति भी बहुत दी है। सब सामग्री इतनी दी है कि मनुष्य कई बार अपना कल्याण कर ले, जबकि एक बार कल्याण होनेके बाद दूसरी बार कल्याण करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती। बहुत विचित्र-विचित्र सामग्री भगवान्‌ने मनुष्यको दी है। जैसे, एक यह सीधो बात है कि बचपनसे आजतक आपको यह पक्का ज्ञान है कि देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति सब बदली है और मैं वही हूँ। मैं तो वही हूँ, पर शरीर वैसा नहीं है, साथी वैसे नहीं हैं। जो बदले हैं, उनको छोड़ दें और जो नहीं बदला है, उसको पकड़ ले तो अभी बेड़ा पार है, अभी-अभी, इसी क्षण। जो बदलता है वह मेरा स्वरूप नहीं है और जो नहीं बदलता है, वह मेरा स्वरूप है बस, इतना ही काम है।

अनेक परिस्थितियोंके बीच आप एक हैं। अनेक घटनाओंके बीच आप एक हैं। अनेक देशोंमें घूम-फिर कर भी आप एक रहते हैं। बहुत समय बीतनेपर भी आप वही रहते हैं। सब कुछ बदलनेपर भी आप वही हैं। उस बदलनेवालेसे अपनेको आप अलग करके देखें, तो अभी मौज हो जाय। अपनेको अलग करके देखना तत्त्वज्ञान हो गया और बदलनेवालेको साथ मिला करके देखना अज्ञान हो गया।

साधन करनेवाले भाई-बहिनोंके मनमें एक बात आती है कि मेरा मन निर्विकार हो जाय। दुःख-सुखकी घटनाका मेरे मनपर असर न पड़े। अनुकूलता और प्रतिकूलताका असर न पड़े। यदि ऐसी मनकी अवस्था हो जाय तो तत्त्वज्ञान हो गया और यदि मनपर असर पड़ता है तो तत्त्वज्ञान नहीं हुआ। इस वास्ते इस बातको आप ठीक तरहसे समझें कि असर किसपर पड़ता है? मनपर पड़ता है, बुद्धिपर पड़ता है, शरीरपर पड़ता है, इन्द्रियों पर पड़ता है। जैसे--रुपये आये, नफा हुआ तो आपके मनमें प्रसन्नता हुई। रुपये चले गये, घाटा लग गया तो आपका मन दुःखी हो गया। मनमें नफा-नुकसान होनेसे दो तरहका असर हुआ, पर आप तो वही रहे। नफा हुआ तो आप दूसरे थे क्या! नुकसान हुआ तब आप दूसरे हो गये क्या? अगर आप एक नहीं रहते तो नफा-नुकसान दोनोंका ज्ञान किसको होता? आप तो सम हो रहते हैं, एक ही रहते हैं। आपपर असर पड़ता ही नहीं है। असर पड़ता है, मन-बुद्धिपर।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि--ये सब बदलनेवाले हैं। इनपर यदि कोई असर पड़ गया तो क्या हो गया। ये बदल गयीं तो क्या हो गया। आप उसके असरसे अपनेको सुखी-दुःखी मानते हो, यही गलती होती है। इतनी बातपर दृढ़ रहो कि मैं वही हूँ। सुखके समयमें जो था, वही दुःखके समयमें भी हूँ। अपने आपमें स्थित रहना ही 'स्वस्थ' होना है, अर्थात् 'स्व' में स्थित होना है। सुखी-दुःखी होना प्रकृतिमें स्थित होना है। प्रकृतिमें स्थित होनेसे सुख-दुःखके भोगनेमें हेतु होना पड़ता है। क्यों? इसलिये कि आप प्रकृतिमें स्थित हो जाते हैं अर्थात् शरीर, इन्द्रियों, मन-बुद्धिपर जो असर होता है, उसे आप अपनेपर असर होना मान लेते हैं। आप जानकर प्रकृतिमें स्थित होते हैं। आप उसमें स्थित हैं नहीं। आप न सुखमें हैं, न दुःखमें; न लाभमें हैं, न हानिमें। न किसीके जन्ममें हैं, न किसीके मरणमें। आप सदैव इन सबसे अलग हैं। आप जान-बूझकर अपनेको उसमें खींच लेते हैं और सुखी-दुःखी हो जाते हैं और कहते हैं कि 'साहब! बोध नहीं हुआ।' बोध करना चाहते हो तो—जो आप वही रहते हैं, बस, इस बातमें स्थित रहो। इसको कहते हैं—'समदुःखसुखः स्वस्थः।' 'स्व' में स्थित हो गये, बस! 'स्व' सदा ही निर्विकार है। 'स्व' में कभी विकार होता ही नहीं। विकार अन्तःकरणमें होता है, उसके साथ मिलकर आप अपनेको विकारी मान लेते हो और सुखी-दुःखी होते हो।

कभी-कभी मुझे बहुत बड़ा भारी आश्चर्य लगता है कि कहाँ गाड़ी अटकी हुई है? पाप कर्म करनेकी बात मैं कहता ही नहीं। जो लोग सत्संग करते हैं, वे पाप करते हैं,

ऐसा मेरे मनमें आता ही नहीं। आप सत्संगमें आये हो सत्संग सुननेके लिये, भजन-ध्यान करनेके लिये, कल्याण करनेके लिये फिर भी आप पाप ही करो तो यहाँ क्यों आये हो ? पाप कभी भूलकर भी नहीं करना चाहिये। जिसको अन्याय समझते हो, उसको स्वप्नमें भी मत करो। अपनी तरफसे पापका विचार ही छोड़ दो। आपके मनमें गन्दी फुरना आ गयी, अच्छी फुरना आ गयी, बुरी आ गयी, शोक आ गया, चिन्ता आ गयी, हर्ष हो गया, कहीं राग हो गया, कहीं द्वेष हो गया—ये ही तो होते हैं ? ये होनेपर भी आप अपनेमें स्थित रहो, उनसे मिलो मत। उनके साथ मिलते हो, यह प्रकृतिस्थ होना है। प्रकृतिके साथ मिले रहनेसे पाप भी लगेगा, जन्म-मरण भी होगा, दुःख भी होगा, सब कुछ होगा—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।**' (गीता १३ । २१)।

चीजें बनती हैं, बिगड़ती हैं, पदार्थ आते हैं, जाते हैं। उनको देखकर भी आप अपनेमें ही स्थित रहो, क्योंकि आप उनको देखनेवाले हो। देखनेवाला दीखनेवाली वस्तुओंसे अलग होता है—यह नियम है। सुखदायी परिस्थितिको भी आप देखते हो और दुःखदायी परिस्थितिको भी आप देखते हो। संयोगको भी आप देखते हो। वियोगको भी आप देखते हो। देखनेवाले आपमें क्या अन्तर पड़ा ? देखनेवाले आप तो वही रहे।

मान लो, हम गङ्गाजीके किनारे खड़े हैं। बहुत-से सिलपट (काठके टुकड़े) बहते हुए आ जायँ, उनको देखकर हम खिल-खिलाकर हँस पड़ें और मनमें सोचें कि बहुत आनन्द हो गया, इतने सिलपट बहते हुए आ गये; आज तो बड़ा आनन्द हो गया। दूसरे दिन वहीं खड़े रहे और सिलपट एक भी न आवे उधरसे बह जाय, अब हम जोर-जोरसे रोने लगें। कोई पूछे कि 'भाई, क्यों रोते हो ?', तो हम कहें कि 'भाई, आज एक भी सिलपट हमारे पाससे बहकर नहीं गया। सब-के-सब उधरसे बहकर चले गये।' अब जरा विचार करो कि अपनेमें क्या फर्क पड़ा ? सिलपट इधर आकर बह जाय तो क्या ? तुम तो उन्हें छूते नहीं। तुम्हारे पास वे रहते नहीं। वे तो बहते हैं और तुम खड़े हो। पासमें आकर सिलपट बह गया तो तुम खुश हो गये। दूरसे बहकर चला गया तो रोने लग गये—यह मूर्खता ही तो हुई !

ऐसे ही बेटेका जन्म हुआ तो आप प्रसन्न हो गये, बेटा मर गया तो रोने लग गये। किसी दूसरेके भी लड़का हुआ और मर गया, पर आप न तो उसके जन्म लेनेपर प्रसन्न हुए, न मरनेपर रोये। धन उसके हो गया और चला गया, आप नहीं रोये। आपके होकर चला गया तो रोते हो। 'क्यों रोते हो भाई ? आपके पास पहले था नहीं, बीचमें हो गया, फिर चला गया। आप तो जैसे पहले थे, वैसे हो गये, तब रोना किस लिये ?

आपको कुछ भी स्पर्श करता नहीं। आप अपनेमें स्थित रहो, रोओ क्यों ? आप बहनेवाली घटनाओं, परिस्थितियों, पदार्थों, व्यक्तियोंसे चिपकोगे तो रोओगे मुफ्तमें। संसारका दुःख मुफ्तमें आपने पकड़ रखा है, उड़ता तीर अपनेपर ले रहे हो। भगवान्‌ने दुःख पैदा किया ही नहीं, दुःख है ही नहीं। आप स्वयं दुःख पैदा कर लेते हो, बहनेवाली चीजोंसे सम्बन्ध जोड़कर दुःखको मोल लेते हो। पता नहीं, आपको क्या शौक लगा है ? आप बदलनेवालेके साथ मिलो मत। भले ही बदलनेवालेके साथ एकता दीखती रहे, पर उसके साथ आप मिले नहीं। मैं उससे अलग हूँ—ऐसा देखो। जहाँ अलगावका ज्ञान साफ हुआ कि विकार मिट जावेंगे। मिले रहोगे तो विकार रहेंगे।

प्रश्न—'स्वामीजी ! हम मिले हुए तो हैं, इससे अलग कैसे होवें ?

उत्तर—आप मिले हुए हो ही नहीं। यदि आप मिले हुए होते तो आप भी बचपन, जवानी, बुढ़ापाके साथ बदलते। आप तो कहते हो कि 'मैं वही हूँ, पर बचपन चला गया, जवानी चली गयी, बुढ़ापा आ गया, आप तो वही रहे। आप अलग हो, तब तो आप वही रहे ? आप तीनोंको जानते हो। जाननेवाला जाननेमें आनेवाली अवस्थाओंसे अलग होता है तो आप अलग हुए कि एक हुए ? मिले हुए आप हो नहीं, जानते हो कि मिले हुए नहीं हैं। फिर भी अपनेको मिले हुए मानते हो। बस, आजसे इसको मत मानो।

प्रश्न—कैसे नहीं मानें ? हमें तो मिला हुआ दीखता है !

उत्तर—आप दीखनेवालेको आदर मत दो, अपने अनुभवको आदर दो। गीताजीके वचनोंका आदर करो कि हम अलग हैं। चाहे घुला-मिला दीखे, साक्षात् मिला हुआ दीखे, परन्तु मैं इनसे अलग हूँ—इतना मान लो। प्रत्यक्ष अनुभव है कि बचपनसे आजतक शरीर बदला है, पर मैं

वही हूँ। इस अनुभवके आधारपर यह मान लो कि शरीर अलग है, मैं अलग हूँ। यदि फिर भी ठीक अनुभव न हो तो व्याकुल होकर भगवान्से कहो—'महाराज, मुझे ऐसा अनुभव नहीं हो रहा है।' इतनी बात पक्की जान लो कि 'हूँ' तो अलग ही। यदि अलग न होता तो मरनेपर शरीर यहाँ नहीं रहता, साथमें जाता अथवा शरीरके साथ मैं यहाँ रहता। न आप शरीरके साथ रहते हो और न आपके साथ शरीर जाता है। तो एक कैसे है? दो हुए कि नहीं? जैसे, मैं मकानमें रहता हूँ तो मैं और मकान एक कैसे हो गये? मैं मकानसे अलग चला जाता हूँ तो मकान और मैं दो हुए न? ऐसे ही शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि मकान हैं। आप इसमें रहनेवाले हो, रहते हो और निकल भी जाते हो। आप इसके साथ एक नहीं हो। एकता आपकी मानी हुई है। यह आप सबका अनुभव है।

जैसे, आप स्वस्थ होनेके लिये कड़वी-से-कड़वी दवा चिरायता, कुटकी आदि आँख मींचकर पी लेते हो, ऐसे ही वास्तविक स्वस्थ होनेके लिये 'मैं अलग हूँ'—इस दवाईको पी लो। फिर भी अलग न दीखे तो व्याकुल हो जाओ। जोरदार व्याकुलता होगी तो चट अलगावका अनुभव हो जायगा। भोगोंमें रस लेते रहे, सुख भोगते रहे तो कितना भी पढ़ जाये, पण्डित बन जाये, चारो वेद पढ़ जाये, पर कभी शरीरसे अलगावका अनुभव नहीं होगा। व्याकुल हो जाओ कि ऐसा अनुभव जल्दी-से-जल्दी कैसे हो? तो आपको घुला-मिला दीखना बन्द हो जायगा; क्योंकि घुले-मिलेकी मान्यता भूल है। वह भूल अब नहीं करेंगे—ऐसा दृढ़ विचार करनेसे फिर इस भूलके मिटनेमें देरी नहीं लगेगी।

नारायण ! नारायण !! नारायण !!!

भागवती कथाकी प्रस्तावना

(संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज)

भागवतके प्रथम स्कंधके पहले अध्यायका दूसरा श्लोक प्रस्तावनारूप है। भागवतका मुख्य विषय क्या है, उसके अधिकारी कौन हैं? आदिका निरूपण इस श्लोकमें हुआ है। श्लोक इस प्रकार है—

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सताम्,
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।

श्रीमद्भागवतमें प्राणिमात्रपर दया करनेवाले और मत्सर-रहित सत्पुरुषोंके एकमात्र आश्रयरूप ईश्वरकी आराधनारूप, निष्काम परमधर्मका वर्णन किया गया है और जो परमार्थ-रूप जाननेयोग्य परमसुखदायी, आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक तापको हरनेवाला है, उस परमात्मरूप तत्त्वका भागवतमें वर्णन किया गया है। जिस धर्ममें कोई कपट न हो ऐसा निष्कपट धर्म भागवतका मुख्य विषय है।

मनुष्य जिस सत्कर्मके फलकी अपेक्षा करता है, वह सत्कर्म, वह धर्म, निष्कपट नहीं है। निष्काम कर्ममें दोष क्षम्य हैं, सकाम कर्ममें दोष अक्षम्य हैं।

नारदजीने वाल्मीकिजीसे 'राम' मंत्रका जाप करनेको कहा। वाल्मीकिने भूलसे 'राम'के बदले 'मरा' कर दिया और 'मरा मरा' जपने लगे। फिर भी उनको फल तो 'राम' मंत्रके जपका ही मिला।

पापीके मुखसे सुगमतापूर्वक 'राम' नाम नहीं निकलता। भगवान्का हृदयमें प्रवेश होनेपर पापको बाहर निकलना पड़ता है। पाप भगवान्का नाम नहीं लेने देता। सेवाका फल सेवा ही है। मुक्तिकी भी आशा त्याज्य है।

भागवतका मुख्य विषय है—निष्काम भक्ति। जहाँ भोगेच्छा है, वहाँ भक्ति नहीं होती है। भोगके लिये की गयी भक्तिसे भगवान् प्रसन्न नहीं होते। भोगके लिए भक्ति करनेवालेको संसार प्यारा है, भगवान् नहीं।

भगवान्के लिये ही भक्ति कीजिये। भक्तिका फल भगवान्की प्राप्ति होनी चाहिये, संसारसुख नहीं। जो ऐसा सोचते हैं कि भगवान् मेरा सांसारिक काम कर दें या भगवान् मेरे संसारके काम आयें, उसे वैष्णव नहीं कहा जा सकता। भगवान्से कोई संतान माँगता है तो कोई धन। तो भगवान् सोचते हैं कि मेरे लिए तो मंदिरमें कोई आता ही नहीं है, सब अपना-अपना मनोरथ मुझसे पूरा करनेके लिये ही आते हैं।

सच्चा वैष्णव भगवान्से यही कहेगा कि मैं अपनी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन आदि सब कुछ तुम्हारे चरणोंमें अर्पित करनेके लिये आया हूँ। वह भगवान्से न तो दर्शन माँगता है और न तो मुक्ति ही।

माँगनेसे प्रेमकी धारा टूट जाती है, उसका मान (महत्त्व) घटने लगता है । इसलिये प्रभुसे कुछ भी न माँगें । भगवान्‌को अपना ऋणी बनाओ । श्रीरामचन्द्रजीने राज्याभिषेकके प्रसंगपर सभी वानरोंको कुछ भेंट दी, किंतु हनुमानजीको कुछ न दिया । इस घटनासे सीताजीको दुःख हुआ । उन्होंने करुणानिधान भगवान् रामसे कहा कि हनुमान्‌को भी तो कुछ दीजिये । वे बोले कि इन्हें मैं क्या दूँ ? इन्होंने मेरे अनन्त उपकार किये हैं और मैं इनका सब प्रकार ऋणी हूँ ।

प्रति उपकार करौं का तोरा । सनमुख होइ न सकत मन मोरा ॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि विचार मन माहीं ॥

शुद्ध प्रेममें लेनेकी भावना नहीं होती, देनेकी होती है । मोह भोगकी इच्छा करता है जब कि प्रेम भोग देता है । प्रेममें माँग नहीं होती । प्रेममें अपेक्षाका भाव जगा कि सच्चा प्रेम भागा ही समझो । माँगी हुई वस्तु भक्तिमें मिलेगी जरूर, किंतु भगवान् हाथसे निकल भागेंगे । नित्य देनेवाला चला जायेगा ।

गीतामें अ० ७ श्लोक २३ में कहा है—

देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥

सकामी भक्त जिन देवताओंकी पूजा करते हैं, उन सभी देवताओंद्वारा मैं इच्छित भोगोंकी पूर्ति करता हूँ । किंतु मेरी निष्काम भक्ति करनेवाले भक्त मुझे ही प्राप्त करते हैं ।

भगवान्‌से धन माँगोगे तो धन तो मिलेगा, किंतु भगवान् स्वयं नहीं मिलेंगे ।

भगवान्‌के पास जितना माँगोगे, उतना ही वे देंगे किंतु प्रेम कम हो जायेगा । व्यवहारमें भी हम यह अनुभव करते हैं कि जबतक कुछ माँगा न जाय तबतक ही दो मित्रोंकी मैत्री प्रेमपूर्ण रहती है ।

गोपियाँ नयन (दृष्टि) भी कृष्णको ही देती हैं और मन भी । वे श्रीकृष्णसे कुछ भी माँगनेकी अपेक्षा सर्वस्व अर्पण ही करती हैं । भगवान्‌से कुछ माँगोगे तो प्रेम खण्डित होगा । हमेशा ऐसा ही मानिये कि प्रभुने मुझे बहुत कुछ दिया है ।

कई लोग प्रत्येक वर्ष डाकोर-(द्वारका-) की यात्रा करते हैं । वे रणछोड़जीसे कहते हैं कि मैं कई वर्षोंसे आपके दर्शनार्थ आता रहता हूँ, फिर भी मुझे पुत्र नहीं मिला है । भगवान् उसे पुत्र तो दे देते हैं किंतु आगे धीरे-धीरे उसे निष्काम बनानेका भी मार्ग अपनाते हैं । वे अपेक्षासे कुछ कम भी दें तो मानिये कि वे तो परिपूर्ण हैं किंतु मेरी पात्रता अधूरी होनेसे मुझको कम मिला है ।

निष्काम भक्ति उत्तम है । वैष्णव मुक्तिकी भी अपेक्षा नहीं करता । हरिके जन तो मुक्ति भी नहीं माँगते । मुक्तिकी उपेक्षासे भक्तिमें अलौकिक आनन्द आता है । भक्तिमें जिसे आनन्द मिलता है, उसे मुक्तिका आनन्द तुच्छ (नगण्य) लगता है ।

वेदान्ती मानते हैं कि जब इस आत्माको बंधन ही नहीं है तो फिर मुक्तिका प्रश्न ही कहाँ उठता है ! वैष्णव मानते हैं कि मुक्ति तो भगवान्‌की दासी है । दासीकी अपेक्षा मेरे भगवान् गुरुतर हैं ।

भगवान् मेरा काम करें, ऐसी अपेक्षा कभी न करो ।

रामकृष्ण परमहंसको कैंसरकी बीमारी हो गयी । शिष्योंने कहा कि माताजीसे कहिये, वे आपकी बीमारीका इलाज करेंगी । रामकृष्णने कहा कि अपनी माताको मैं अपने लिये कोई तकलीफ न दूँगा ।

भक्तिका अर्थ यह तो नहीं है कि अपने सुखके लिये डाकोरजीको हम त्रास दें, परिश्रम दें । माँगनेसे सच्ची मैत्रीके गौरवकी हानि होती है । सच्चा समझदार मित्र कभी नहीं माँगता ।

सुदामाकी भगवान्‌के प्रति सच्ची भक्ति थी । वे दरिद्र थे । पत्नीने कुछ माँगनेके लिये उन्हें भगवान्‌के पास भेजा । सुदामा भगवान्‌के पास आये, किंतु माँगनेके लिये नहीं, मिलनेके लिये । उन्होंने द्वारिकापतिका वैभव देखा, फिर भी जुबान तक न खोली । सुदामाने सोचा कि मित्र-मिलनसे ही यदि भगवान्‌की आँखें भीग रही हैं तो फिर अपनी दरिद्रताकी बात बताने पर उन्हें कितना गहरा दुःख होगा । मेरे दुःखका कारण मेरे कर्म ही हैं । मेरे दुःखकी गाथा सुनकर उन्हें दुःख ही होगा, ऐसा सोचकर सुदामाने भगवान्‌से कुछ नहीं माँगा ।

सुदामाकी तो यही इच्छा थी कि अपने द्वारा लाये गये मुट्ठीभर तन्दुलका भगवान् प्रेमसे प्राशन करें । भगवान् जानें कि वह कुछ लेने नहीं, देने ही आया है ।

ईश्वर पहले हमारा सर्वस्व लेता है और फिर अपना सर्वस्व हमें देता है। जीवके निष्काम होनेपर ही भगवान् उसकी पूजा करते हैं। भक्त जब निष्काम होता है तो भगवान् भक्तको अपने स्वरूपका दान करते हैं।

जीव जब अपना जीवत्व छोड़कर ईश्वरके द्वारपर जाता है तब भगवान् भी अपना ईश्वरत्व भूलकर भक्तसे मिलते हैं।

सुदामाजी दस दिनसे भूखे थे। फिर भी उन्होंने अपना सर्वस्व (मुट्ठीभर चावल) प्रभुको दे दिया। उनके चावल मुट्ठीभर ही थे पर उस समय वे ही तो उनके सर्वस्व थे। वैसे मुट्ठीभर चावलकी कोई इतनी बड़ी कीमत नहीं है। मूल्य तो सुदामाके प्रभु-प्रेमका है।

यदि मेरे लिये श्रीठाकुरजीको थोड़ा-सा भी श्रम उठाना पड़ेगा तो मेरी भक्ति व्यर्थ है, निष्फल है, ऐसा मानो। भगवान्से कुछ भी न माँगो। न माँगनेसे भगवान् तुम्हारे ऋणी होंगे।

गोपियोंने भगवान्से कुछ भी नहीं माँगा था। उनकी भक्ति निष्काम थी। अतः भगवान् गोपियोंके ऋणी थे। गोपी-गीतमें भी वे भगवान्से कहती हैं कि हम तो आपकी निःशुल्क क्षुद्र दासियाँ हैं; अर्थात् निष्काम भावसे सेवा करनेवाली दासियाँ हैं। इसी तरह कुरुक्षेत्रमें भी जब वे भगवान् श्रीकृष्णसे मिलती हैं तो वहाँ भी वे कुछ माँगती नहीं। वे तो केवल इतनी ही इच्छा करती है कि—

संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
गेहंजुषामपि मनस्युदियात् सदा नः।

संसाररूपी कुएँमें गिरे हुए लोगोंको उससे बाहर निकलनेके लिये अवलम्बरूप आपके चरणकमल, हम गृहस्थोंके मनमें सदा निवास करें। (क्रमशः)

मानसका धर्मरथ

(लेखक—मानसमराल पं० श्रीजगेशनारायणजी शर्मा, एम्० ए०, डिप० इन० एड०)

श्रीरामचरितमानसके लंकाकाण्डमें गोस्वामीजीने धर्म-रथकी अवतरणा की है। राम और रावणके बीच कई दिनोंसे भयंकर युद्ध चल रहा है। रामके दुर्धर्ष प्रहारके बावजूद भी रावण मरता नहीं है। नित्य नये रथपर सवार होकर दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित होकर वह युद्धभूमिमें आता है। दोनोंका भयंकर युद्ध देखकर सामान्य मानव तो क्या इन्द्रादि देव भी भयभीत हो उठते हैं। यह निश्चय करना मुश्किल है कि जीत किसकी होगी। जैसे-जैसे समय बीतता जा रहा है वैसे-वैसे लोगोंके मनमें भय, आशंका और उत्सुकताका भाव बढ़ता जा रहा है।

आज युद्धभूमिमें एक ओर अनेक दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित रथारूढ़ रावण तथा दूसरी ओर ऐसे समर्थ साधन-रहित रामको देखकर भक्तराज विभीषणका मन विचलित हो उठता है। विभीषण रावणके पराक्रम तथा उसकी साधन-सम्पन्नतासे भलीभाँति परिचित हैं। दूसरी ओर रामके हाथमें धनुष-बाणके अतिरिक्त युद्धके कोई भी साधन नहीं हैं। न रथ, न कवच; यहाँ तककी पदत्राण भी नहीं। भला, ऐसी परिस्थितिमें रामजी विश्वविजयी रावणको कैसे जीत पायेंगे ? यह प्रश्न विभीषणके मनको अधीर बना देता है। गोस्वामीजीने विभीषणकी मनःस्थितिका वर्णन अत्यन्त मार्मिक ढंगसे प्रस्तुत किया है—

रावनु रथी बिरथ रघुबीरा। देखि बिभीषन भयउ अधीरा॥
अधिक प्रीति मन भा संदेहा। बंदि चरन कह सहित सनेहा॥
नाथ न रथ नहिं तन पदत्राना। केहि बिधि जितब बीर बलवाना॥
(मानस ६। ८०। १-३)

विचार करनेपर विभीषणकी अधीरताके कई प्रत्यक्ष कारण सामने उपस्थित होते हैं—

(१) रावण रथारूढ़ है, राम रथविहीन।

(२) रावण कवचादिसे सुसज्जित है, रामके पास न कवच है, न पदत्राण।

(३) रावण विश्वविजयी योद्धा है, राम अत्यन्त सुकुमार राजकुमार हैं।

उपर्युक्त कारणोंके आलोकमें विभीषणकी अधीरता और आशंका बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत होती है कि 'केहि बिधि जितब बीर बलवाना' ?

विभीषणकी आशंकाकी एक मनोवैज्ञानिक भूमिका भी है। वह है रामके प्रति उनके मनका अधिक स्नेह। जिस किसीके प्रति भी अधिक स्नेह होता है, उसके प्रति न

अनेक आशंकाओंसे ग्रसित हो उठता है—'**स्नेहः पापमाशङ्कते**।' यह मानव-मनकी स्वाभाविक दुर्बलता है। कारण है कि हम अपने प्रियजनका अहित नहीं चाहते। अतः उसके प्रति नाना प्रकारकी आशंकाओंकी कल्पना करने लगते हैं। विभीषण भी रामके प्रति उसी मनोवैज्ञानिक मनःस्थितिमें हैं।

विभीषणका प्रेमपूर्ण प्रश्न सुनकर राम मन-ही-मन मुस्कुराते हैं तथा उनका समाधान करते हैं। राम तत्त्वज्ञ हैं, अतः इन प्रश्नोंका उत्तर आध्यात्मिक ढंगसे प्रस्तुत करते हैं। राम जानते हैं कि विभीषण घोर भौतिकताके बीच लंका नगरमें निवास करते हैं—जहाँ भौतिक साधनोंको ही सर्वोपरि महत्त्व दिया है। किंतु विश्वविजयी होनेके लिये जिस साधनकी आवश्यकता है, वस्तुतः वह कुछ और ही है। श्रीराम कहते हैं कि 'विभीषण! विजयके लिये जिस रथकी आवश्यकता है, वह कुछ अन्य ही है। भौतिक रथ तो दिखावामात्र है—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिबेक दम पर हित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥
(मानस ६। ८०। ४–१०)

भगवान् रामने जिस विजयरथका विस्तारपूर्ण रूपकात्मक वर्णन किया, वह रावणके भौतिक रथसे सर्वथा भिन्न है। शौर्य और धैर्य इस रथमें पहिये हैं। विजयका रथ तो शौर्य-धैर्यके चक्रपर ही चलता है। तात्पर्य यह है कि (जीवन-युद्धको) जीतनेके लिये व्यक्तिमें शौर्य और धैर्यका होना अनिवार्य है। सत्य और शील इस रथकी ध्वजा-पताका हैं। सत्यको सबसे बड़ा तप माना गया है—

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।

यानी तपःपूत व्यक्ति ही जीवन-युद्धको जीत सकता है। राम इस समय तपस्वी हैं—

तापस बेष बिसेष उदासी। चौदह बरिस रामु बनबासी॥

रावणने तो रामका नाम ही 'तपसी' रख दिया है—

कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी। जिन्ह के हृदय त्रास अति मोरी॥

'तुलसी-साहित्य'में 'जपोबल' को बहुत महत्त्व दिया गया है। गोस्वामीजीकी मान्यता थी कि सृष्टिका निर्माण, पालन तथा विनाश तपोबलसे ही होता है। सृष्टिका एकमात्र आधार तप है—

तपबल रचइ प्रपंचु बिधाता। तपबल बिष्नु सकल जग त्राता॥
तपबल संभु करहिं संघारा। तप बल सेषु धरइ महिभारा॥
तप आधार सब सृष्टि भवानी। करहि जाइ तपु अस जियँ जानी॥
(मानस १। ७३। २-३)

श्रीराम तपोबलको भलीभाँति जानते हैं। दूसरी ओर रावण घोर भौतिकवादी है। उसके जीवनमें तप, त्याग, वैराग्यका कुछ भी महत्त्व नहीं है। वह समस्त वैदिक आचरण तथा धर्मानुष्ठानका प्रबल विरोधी है। रावणने आदेश जारी कर अपने राज्यमें समस्त शुभ कर्मोंका निषेध कर दिया है—

सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई। देव बिप्र गुरु मान न कोई॥
नहिं हरिभगति जग्य तप ग्याना। सपनेहुँ सुनिअ न बेद पुराना॥
(मानस १। १८३। ३)

जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनइ दससीसा।
आपुनु उठि धावइ रहै न पावइ धरि सब घालइ खीसा॥
अति भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना।
तेहि बहुबिधि त्रासइ देस निकासइ जो कह बेद पुराना॥
बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापन्हि कवनि मिति॥
(मानस १। १८३)

इस तरह रावण सत्य, शील तथा तप तीनोंसे रिक्त है। दूसरी ओर राम तपस्वी तो हैं ही 'शीलसिंधु' तथा 'सत्यसंध' भी हैं।

रामके धर्मरथमें बल, विवेक, दम और परहित नामक चार घोड़े हैं। घोड़े परम वेगवान् और चंचल होते हैं। किंतु इस धर्मरथके घोड़ोंको अत्यन्त सुन्दर क्रमसे नियुक्त किया गया है। बलके साथ विवेक नामका तथा दमके साथ परहित नामका घोड़ा है। तात्पर्य यह है कि बलके साथ विवेकका तथा दमके साथ परहितका सम्बन्ध बना रहे तो जीवन-रथ ठीक दिशामें चलेगा। रावणमें इस क्रमका विपर्यय है। यही कारण है कि उसका रथ विपरीत दिशामें चल

रहा है। रावण धर्मको निर्मूल करना चाहता है और रामका धर्म संस्थापन उनका ध्येय है—'**धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे**।'

धर्मरथके चारों घोड़ोंका क्षमा, कृपा और समता नामक तीन रस्सियोंसे बाँधा गया है। घोड़े वेगवान् तथा चंचल स्वभावसे ही हैं। किंतु क्षमा, कृपा और समतामें बाँधकर उन्हें अनुकूल बनाया जा सकता है। जीवनरथ जब अनुकूल दिशामें चलेगा तो विजय होगी और प्रतिकूल दिशामें चलेगा तो विनाश। रावणका जीवनरथ विनाशकी ओर चल रहा है, क्योंकि उसने धर्मका निषेध कर दिया है।

दूसरी ओर राम इस तत्त्वको भलीभाँति जानते हैं कि जहाँ धर्म है वहीं जीत है—'**यतो धर्मस्ततो जयः**।' राम जब यात्रा करते हैं तो या तो उनके संग कोई वैदिक मार्गको जाननेवाला महात्मा होता है या वे किसी ऋषिसे मार्ग पूछकर यात्रा करते हैं। उनकी लीलाओंमें दो प्रमुख यात्राएँ हैं—एक मिथिलाकी, दूसरी लंकाकी। जनकपुर-यात्रामें गुरु विश्वामित्रजी उनका मार्ग-दर्शन करते हैं। लंका-यात्राके प्रारम्भमें वे भरद्वाजमुनिसे मार्ग पूछते हैं—

राम सप्रेम कहेउ मुनि पाहीं। नाथ कहिअ हम केहि मग जाहीं॥
मुनि मन बिहसि राम सन कहहीं। सुगम सकल मग तुम्ह कहँ अहहीं॥
(मानस २। १०८। १)

आगम-निगम-निरूपित समस्त मार्गोंके ज्ञाता होनेके बावजूद राम मुनिशोधित मार्गका अनुसरण करते हैं। रावण-का कार्य-व्यापार इसके सर्वथा विपरीत है। स्वयं तो वह श्रुतिमार्गसे भ्रष्ट हो ही गया है, अगर विभीषण, प्रहस्त, मन्दोदरी आदि उसे सही मार्गपर चलनेका परामर्श देते हैं तो वह उल्टे उन्हें अपमानित करता है।

जीवनरथको सुव्यवस्थित सही दिशामें चलानेके लिये 'ईशभजन' रूपी सारथिकी आवश्यकता है। अगर सारथि सही नहीं होगा तो चारों घोड़े चार दिशाओंमें चलेंगे। जैसे चतुर सारथि रथके घोड़ोंको कुशलता-पूर्वक अनुशासित रखकर गन्तव्यतक पहुँचाता है, उसी प्रकार भजन मानवको उसके लक्ष्यतक पहुँचाता है। सारथि जितना चतुर होगा उतनी ही कुशलतासे वह रथका संचालन करेगा। सारथि-के मुख्यरूपसे दो काम हैं—(१) रथको सही मार्गपर ले जाना, (२) रथीको शत्रुओंके आक्रमणसे बचाना। भजन रूपी सारथि मानवको सही दिशा प्रदान करता है तथा उसकी रक्षा करता है। भजनकी महिमा बड़े विस्तारके साथ महाकविने गायी है। शंकरजीने पार्वतीसे बतलाया कि इस स्वप्नवत् संसारमें एकमात्र सार तत्त्व भजन ही है—

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना॥

× × ×

रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूछ बिषान॥
(मानस ७। ७८)

रथीको रणक्षेत्रमें जाना है जहाँ उसे शत्रुओंपर आक्रमण करना है तथा शत्रुओंके आक्रमणसे स्वयंको बचाना है। रक्षा एवं आक्रमण दोनोंके लिये अनेक अस्त्र-शस्त्रोंकी आवश्यकता है। कविने बड़े विस्तारके साथ उनका वर्णन किया है। विरति (वैराग्य) ढाल है तथा संतोष तलवार (कृपाण) है। ढाल आक्रमणसे बचाता है तथा तलवारसे शत्रुपर आक्रमण किया जाता है। अन्य अस्त्रोंमें दान-रूपी परशु तथा बुद्धि-रूपी प्रचण्ड शक्ति है। वर-विज्ञान ही दृढ़ धनुष है। निर्मल दृढ़मन ही त्राण (तरकस) है जिसमें शम, यम, नियम रूपी नाना प्रकारके बाण भरे हुए हैं।

यहाँ विचारणीय बात यह है कि शत्रुपर प्रहार करनेके लिये तो नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र हैं, लेकिन शत्रुके प्रहारसे स्वयंको बचानेके लिये मात्र दो साधन हैं—ढाल और कवच। कुशल योद्धा आक्रमणके पूर्व अपनी सुरक्षाका पूरा प्रबन्ध कर लेता है। गोस्वामीजीने वैराग्यको ढाल कहा है—'बिरति चर्म, संतोष कृपाना'। ढाल (वैराग्य) जितना मजबूत होगा, उतनी मजबूतीसे हमारी रक्षा करेगा।

रक्षाका दूसरा उपकरण कवच है। ढालको हाथमें पकड़ा जाता है तथा कवचको पूरे शरीरपर धारण किया जाता है। गोस्वामीजीने विप्र और गुरुपद पूजाको अभेद कवच कहा है। जो योद्धा विप्रों तथा गुरुओंके आशीर्वाद-रूपी अभेद कवचसे सुरक्षित है उसपर कोई भी प्रहार सफल नहीं हो सकता। जिस योद्धाके पास धर्मका इतना सुदृढ़ रथ है तथा नानाप्रकारके दिव्य अस्त्र-शस्त्र हैं, भला उसके लिये किसी भी शत्रुको जीत लेना क्या कठिन है? इस प्रकार विभीषणके माध्यमसे श्रीरामने मानवमात्रको जीवन-युद्ध जीतनेके लिये एक अमोघ रथ और अमोघ अस्त्र-शस्त्र प्रदान किया है। इस धर्मरथपर आरूढ़ होकर किसी भी शत्रुको सरलतासे जीता जा सकता है।

शत्रु कौन है—इस प्रश्नपर भी श्रीरामने नये ढंगसे विचार किया है। रामके अनुसार यह संसार ही अजेय शत्रु है। जो संसारको जीत ले वही वीर है—

महा अजय संसार रिपु जीति सकै सो बीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मति धीर॥
(मानस ६। ८०)

संसाररूपी अजेय शत्रुको वही जीत सकता है जिसके पास उपर्युक्त वर्णित धर्मका रथ हो। संसार शत्रु है, इसका तात्पर्य यह है कि संसारके प्रति जो अत्यधिक आसक्ति है वही अजेय शत्रु है। आसक्ति तोड़नेके लिये उसे धर्मरथपर आरूढ़ होकर दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित होकर शत्रुपर प्रहार करना होगा। जो इस आध्यात्मिक बलसे युक्त होगा वही विजयी होगा, अन्यथा संसाररूपी शत्रु उसे पराजित कर देगा।

रथका रूपक वेदके मन्त्र, उपनिषद् आदि सभी भागोंमें है; महाभारत एवं पुराणोंमें भी है। ऋग्वेदमें दो प्रकारके रथोंका वर्णन है। वैवाहिक उत्सवके अवसरपर रथमें दो बैल होते थे, किंतु उसी ऋग्वेदके पचहत्तरवें सूक्तमें जहाँ संग्राम-वर्णन है, वहाँ सांग्रामिक घोड़ोंका वर्णन मिलता है।

कृष्णयजुर्वेदीय कठोपनिषद् (१। ३। ३-९), महाभारत (उद्योगपर्व ३४। ५२-६०) एवं अध्यात्म-(धर्म)में धर्मरथका रूपक आया है। किंतु गोस्वामीजीने धर्मरथ रूपककी अपनी मौलिक विशेषता देते हुए मानव-जीवनके युद्धमें विजयकी कला बतायी है। यह इस रूपककी निजी विशेषता है।

एतद् वै परमं तपः

(लेखक—श्रीउमरावसिंहजी रावत)

उपनिषदोंमें बृहदारण्यक सबसे बड़ी है। यह इसके नामसे भी इङ्गित होता है। इसके पाँचवें अध्यायका ग्यारहवाँ ब्राह्मण 'तपो ब्राह्मण'के नामसे प्रसिद्ध है। इसका पहला मन्त्र रुग्णावस्थाको प्राप्त मरणासन्न व्यक्तिको भी सन्त्वना प्रदान करता है—
एतद् वै परमं तपो यद् व्याधितस्तप्यते परमं ह वै लोकं जयति य एवं वेद।

'रोगी जिस रोगसे तप्त हो रहा है, जल रहा या पीड़ित है, वह उसका परम तप है। जो रोगी इस रहस्यको समझ जाता है, वह परम लोकको जीत लेता है।'

वास्तवमें यह सब समझनेकी कला है। प्रस्तर-मूर्ति किसी व्यक्तिके लिये केवल पत्थर व धातुका टुकड़ा हो सकती है, परंतु एक निष्ठावान् भक्तको उसीमें साक्षात् भगवान्के दर्शन होते हैं। यही बात रोगपर भी लागू होती है। उसे हम रो-रो कर भी भोग सकते हैं और परम तप समझते हुए संतुष्ट भी हो सकते हैं। निष्ठावान् साधक व भगवद्भक्त रोग एवं रोग-मुक्ति, संपत्ति-विपत्ति इन दोनोंको समभावसे देखता है, यही है समत्वयोग—**'समत्वं योग उच्यते।'** वह विपत्तिसे छुटकारा पानेकी भगवान्से कभी प्रार्थना नहीं करता, माता कुन्तीके शब्दोंमें विपत्तिकी कामना भले ही कर दे—

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥
(श्रीमद्भा० १। ८। २५)

'जगद्गुरु प्रभु श्रीकृष्ण! हमें सदा विपत्तिमें ही रखें; क्योंकि इससे हमें आपके दर्शन होते हैं, जो मोक्षके कारण हैं।'

माता कुन्तीकी इस महती कामनाके अनुसार व्यक्तिके जीवनमें एक ऐसा महान् अवसर आता है जब उसे रोग-मुक्तिका नहीं, अपितु रोगोंका एवं विपत्तियोंका आह्वान करना होता है और उन्हें तप रूपसे शिरोधार्य करना होता है। इस सम्बन्धमें अनुस्मृतिके दो अमर श्लोक स्मरणीय हैं—

पूर्वदेहे कृता ये मे व्याधयः प्रविशन्तु माम् ।
अर्चन्तु च मां दुःखान्यृणं मे प्रतिमुच्यताम् ॥

'पूर्वजन्ममें अपने कर्मोंके द्वारा मैंने जिन व्याधियोंका अर्जन किया था वे सब मेरे अन्दर प्रवेश करें एवं सम्पूर्ण दुःख मेरी अर्चना करें; मुझे पूर्णतः ऋणमुक्त करें ।'

उपतिष्ठन्तु मां सर्वे व्याधयः पूर्ववञ्छिता ।
अनृणं गन्तुमिच्छामि तद् विष्णोः परमं पदम् ॥

(महाभा० अनुस्मृति)

'पूर्व जन्ममें जो व्याधियाँ मुझसे अपनी ऋण-वसूली न कर सकी हों, वे सब एतदर्थ उपस्थित हो जायँ; क्योंकि मैं पूर्णतया ऋणमुक्त होकर ही उस परम विष्णुपदको प्राप्त करना चाहता हूँ ।'

स्मरण रहे कि यह पूर्वोक्त स्थिति सामान्य स्थिति नहीं है, बल्कि देह-त्यागकी भूमिका है और मुमुक्षु-जीवात्माकी परमात्मासे मिलने अथवा आत्मस्वरूपमें लीन हो जानेकी उत्कट कामना है । परंतु जीवनकी सामान्य अवस्थामें भी इस परम लक्ष्यको ध्यानमें रखना आवश्यक है, अन्यथा प्रसन्नतापूर्वक देहत्यागकी उक्त भूमिका न बन सकेगी ।

आत्मा अमर है और उसके सामने मृत्युका कोई प्रश्न ही नहीं । प्रश्न तो केवल प्रसन्नतापूर्वक देहत्यागका है और वह भी जीर्ण वस्त्रोंके त्यागके समान है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

(गीता २ । २२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है ।'

इस लेखके शीर्षकसे आरम्भ होनेवाले मन्त्रके बाद अन्य मन्त्रोंमें देहत्यागकी भावी चिन्तासे मुक्ति पाने-हेतु जीवात्माके मनोबलको ऊँचा किया गया है— **एतद् वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यं हरन्ति परमं है व लोकं जयति य एवं वेद ।**

मृत शरीरको अंतिम संस्कारके लिये जंगलमें ले जाना परम तप है और इस तथ्यको हृदयंगम कर लेनेवाला जीवात्मा परम लोकको जीत लेता है; तथा— **एतद्वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावस्था दधति परमं है व लोकं जयति य एवं वेद ।**

अन्तमें (१६ वें संस्कारस्वरूप) शवको चिताकी धधकती हुई अग्निमें दग्ध करनेकी प्रक्रिया है । इसे भी तप कहा गया है । (और इसलिये परम आनन्दका विषय है) जो व्यक्ति इस रहस्यको भलीभाँति समझ गया है, वह परमलोकको जीत लेता है, वह ऋणमुक्त होकर विष्णुपदका अधिकारी हो जाता है ।

इस प्रकार श्रेष्ठ साधक या भक्त आध्यात्मिक भूमिकापर और ऊँचा उठानेकी दृष्टिसे विपत्तिको ही वरीयता देता है, जैसी माता कुन्तीने कामना की है । योग्यतमा माताके समान भगवान् ही समझते हैं कि मेरे बच्चे-(भक्त-)के लिये किस समय क्या उपयुक्त रहेगा—सम्पत्ति अथवा विपत्ति । अबोध जीवात्मा इसे नहीं समझ सकता, उसका तो एकमात्र कर्तव्य है पूर्ण शरणागति, निश्चिन्त होकर माताकी गोदमें बैठ जाना—

चाह मिटी चिंता गई मनवाँ बेपरवाह ।
जाको कछू न चाहिए सोई शाहंशाह ॥

शाहंशाह तो हम हैं ही माँके विश्व-प्रपंच और प्रपंचातीत सम्पत्तिके अधिकारी ! (उत्तराधिकारी जो ठहरे ।)

गीता-माधुर्य—२

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

दूसरा अध्याय

रथके मध्यभागमें बैठ जानेपर अर्जुनकी क्या दशा हुई संजय ?

संजय बोले—हे राजन् ! जो बड़े उत्साहसे युद्ध करने आये थे, कायरताके कारण जिनके नेत्रोंमें इतना जल आ गया है कि देखनेमें असमर्थ हो रहे हैं और विषाद कर रहे हैं। ऐसे अर्जुनसे मधुसूदन भगवान् बोले—इस विषम-स्थलमें यह कायरता तेरेमें कहाँसे आ गयी ? यह कायरता न श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा धारण करनेलायक है, न स्वर्ग देनेवाली है और न कीर्ति करनेवाली ही है। इसलिये तू इस नपुंसकताको मत प्राप्त हो; क्योंकि तेरे-जैसे पुरुषमें इस कायरताका आना उचित नहीं है। अतः हृदयकी इस तुच्छ दुर्बलताको छोड़कर तू युद्धके लिये खड़ा हो जा।

अर्जुन बोले—महाराज ! मैं मरनेसे थोड़े ही डरता हूँ, मैं तो मारनेसे डरता हूँ। ये भीष्म और द्रोण पूजा करनेलायक हैं। ऐसे पूज्यजनोंके साथ मैं बाणोंसे युद्ध कैसे कर सकता हूँ ?

अरे भैया ! युद्धरूप कर्तव्यके सामने 'ये पूज्य हैं, आदरणीय हैं'—ऐसे थोड़े ही देखा जाता है।

हे महाराज ! गुरुजनोंको न मारकर मैं इस मनुष्यलोकमें भिक्षाके अन्नसे जीवन-निर्वाह करना भी ठीक समझता हूँ। अगर आपके कहे-अनुसार मैं युद्ध भी करूँ तो गुरुजनोंको मारकर उनके खूनसे लथपथ तथा जिनमें धनकी कामना ही मुख्य है, ऐसे भोगोंको ही तो भोगूँगा, इससे मेरी मुक्ति थोड़े ही हो जायगी !

फिर तुम क्या करना ठीक समझते हो ?

हे भगवन् ! हम लोग यह नहीं जान पा रहे हैं कि युद्ध करना ठीक है या युद्ध न करना ठीक है, तथा युद्धमें हम उनको जीतेंगे या वे हमको जीतेंगे। सबसे बड़ी बात तो यह है भगवन् ! कि हम इनको मारकर जीना भी नहीं चाहते, फिर इनको हम कैसे मारें ?

जब तुम इस निर्णयको नहीं जानते, तो फिर तुम इसको अपनेपर क्यों रखते हो ?

हे महाराज ! कायरताके दोषसे मेरा क्षात्र-स्वभाव तिरस्कृत हो गया है और धर्मका निर्णय करनेमें मेरी बुद्धि काम नहीं कर रही है। इसलिये जिससे मेरा निश्चित कल्याण हो, वह बात मेरे लिये कहिये। मैं आपका शिष्य हूँ और आपके ही शरण हूँ। आप मुझे शिक्षा दीजिये।

परन्तु महाराज ! आपने पहले जैसे युद्ध करनेके लिये कह दिया था, वैसा फिर न कहें, क्योंकि युद्धके परिणाममें मुझे यहाँका धनधान्य-सम्पन्न राज्य मिल जाय अथवा देवताओंका आधिपत्य भी मिल जाय तो भी मेरा यह इन्द्रियोंको सुखानेवाला शोक दूर हो जाय—ऐसा मैं नहीं देखता।

फिर क्या हुआ संजय ?

संजय बोले—राजन् ! निद्राविजयी अर्जुन अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णसे 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'—ऐसा साफ-साफ कहकर चुप हो गये।

अरे भैया ! युद्धरूप कर्तव्यके सामने 'ये पूज्य हैं, आदरणीय हैं'—ऐसे थोड़े ही देखा जाता है।

अर्जुनके चुप होनेपर फिर क्या हुआ ?

अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण दोनों सेनाओंके मध्य-भागमें विषाद करते हुए अर्जुनसे मुसकराते हुए कहने लगे—तू शोक न करनेलायकका शोक करता है और पण्डिताईकी-सी बड़ी-बड़ी बातें बघारता है। परन्तु पण्डित लोग जो मर गये हैं, उनके लिये और जो जीते हैं, उनके लिये भी शोक नहीं करते।

शोक क्यों नहीं करते ?

मैं, तू और ये राजा लोग पहले नहीं थे, यह बात भी नहीं और हम सब भविष्यमें न रहेंगे यह बात भी नहीं अर्थात् हम सब पहले भी थे और आगे भी रहेंगे।

इस बातको मैं कैसे समझूँ भगवन् ?

अरे भैया ! जैसे देहीके इस शरीरमें कुमार, युवा और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही देहीको दूसरे शरीरोंकी प्राप्ति

होती है, परन्तु इस विषयमें पण्डित-(ज्ञानी-) लोग मोहित नहीं होते ।

कुमार आदि अवस्था शरीरकी होती है, यह तो ठीक ही है, पर अनुकूल-प्रतिकूल, सुखदायी-दुःख-दायी पदार्थ सामने आ जायँ, तब क्या करें भगवन् ?

अरे भैया ! इन्द्रियोंके जितने विषय (जड़ पदार्थ) हैं, वे सभी अनुकूलता-प्रतिकूलताके द्वारा सुख-दुःख देनेवाले हैं, पर हैं आने-जानेवाले और अनित्य । इसलिये तुम उनको सहो अर्थात् उनमें निर्विकार रहो ।

उनको सहनेसे, उनमें निर्विकार रहनेसे क्या होगा ?

सुख-दुःखमें सम (निर्विकार) रहनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रियोंके विषय (जड़ पदार्थ) व्यथित नहीं करते, वह अमरता-(परमात्माकी प्राप्ति-)का पात्र हो जाता है ।

वह अमरताका पात्र क्यों हो जाता है ?

असत्-(जड़ पदार्थों-) की सत्ता ही नहीं है और सत्-(चेतन तत्त्व-) की सत्ताका अभाव नहीं होता—इन दोनोंके तत्त्वको तत्त्वदर्शी पुरुष जान लेते हैं, इसलिये वे अमर हो जाते हैं ।

वह सत्, अविनाशी क्या है ?

जिससे यह सब संसार व्याप्त है, उसको तुम अविनाशी समझो । इस अविनाशी, अप्रमेय तत्त्वका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है ।

असत्, विनाशी क्या है भगवन् ?

इस नित्य रहनेवाले, अप्रमेय अविनाशीके ये सब देह अन्तवाले हैं, विनाशी हैं । इसलिये तुम युद्धरूप कर्त्तव्य कर्मका पालन करो ।

युद्धमें तो मरना-मारना ही होगा ?

जो इस देहीको मारनेवाला जानता है और जो इस देहीको शरीरोंकी तरह मरनेवाला मानता है, वे दोनों ही ठीक नहीं जानते, क्योंकि यह न किसीको मारता है और न स्वयं कभी मरता है ।

यह मरता क्यों नहीं भगवन् ?

यह न कभी पैदा होता है और न कभी मरता ही है । यह पैदा होकर होनेवाला नहीं है, नित्य-निरन्तर रहनेवाला है, शाश्वत और पुराण (अनादि) है । शरीरके नाश होनेपर भी इसका नाश नहीं होता ।

ऐसा जाननेसे क्या होगा ?

जो इस शरीरीको अज, अविनाशी जानता है, वह पुरुष कैसे किसीको मरवा सकता है और कैसे किसीको मार सकता है ?

मनुष्य तो पैदा होते और मरते हुए दीखते हैं न ?

मनुष्य जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़कर नये कपड़ोंको धारण करता है, ऐसे ही यह शरीरी पुराने शरीरोंको छोड़कर नये शरीरोंको प्राप्त होता है ।

जब यह नये-नये शरीरोंको धारण करता है, तब इसमें कोई-न-कोई अन्तर तो आता ही होगा ?

ना ! इसमें कोई अन्तर आता ही नहीं, क्योंकि इसको शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता और वायु सुखा नहीं सकती ।

ये शस्त्र आदिसे कटता, जलता, गलता और सूखता क्यों नहीं ?

यह शरीरी काटा नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता, गीला नहीं किया जा सकता और सुखाया नहीं जा सकता; क्योंकि यह नित्य रहनेवाला, सबमें परिपूर्ण, स्थिर स्वभाववाला, अचल और अनादि है । यह देही इन्द्रियों आदिका विषय नहीं है । यह अन्तःकरणका भी विषय नहीं है, और इसमें कोई विकार भी नहीं होता । इसलिये इस देहीको ऐसा जानकर तुझे शोक नहीं करना चाहिये ।

इस शरीरको निर्विकार माननेपर तो शोक नहीं हो सकता, पर विकारी माननेपर तो शोक हो ही सकता है ?

अरे भैया ! अगर तू इस शरीरीको नित्य पैदा होनेवाला और नित्य मरनेवाला माने तो भी तुझे शोक नहीं हो सकता; क्योंकि नियमके अनुसार पैदा हुएकी निश्चित ही मृत्यु होगी और मरे हुएका निश्चित ही जन्म होगा, फिर इन शरीरोंको लेकर शोक हो ही कैसे सकता है ?

शरीरोंको लेकर शोक क्यों नहीं हो सकता भगवन् ?

मात्र प्राणी पहले अप्रकट थे, बीचमें प्रकट दीखते हैं और अन्तमें फिर अप्रकट हो जायेंगे, अतः इसमें शोक करनेकी बात ही कौन-सी है ?

तो फिर शोक क्यों होता है ?

न जाननेसे ।

जानना कैसे हो ?

वह जानना अर्थात् अनुभव करना करण-निरपेक्ष है । उसको इन्द्रियों-मन-बुद्धिने कभी देखा नहीं है, इसलिये उसका देखना, कहना, सुनना, सब आश्चर्य की-ज्यों ही हैं और इसीलिये उसको सुनकर कोई भी नहीं जान सकता अर्थात् उसका अनुभव तो स्वयंसे ही होता है ।

तो फिर वह कैसा है ?

वह सबके देहमें रहनेवाला देही नित्य ही अवध्य है, अविनाशी है । ऐसा जाननेपर किसीके लिये भी कभी शोक नहीं हो सकता ।

शोक दूर करनेकी तो आपने बहुत-सी बातें बता दीं, पर मुझे जो पापका भय लग रहा है, वह कैसे दूर हो ?

स्वधर्मरूप कर्तव्यको देखकर तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिये, क्योंकि क्षत्रियके लिये क्षात्रधर्मसे बढ़कर दूसरा कोई श्रेयका साधन नहीं है ।

तो क्या क्षत्रियको युद्ध करते ही रहना चाहिये ?

नहीं भैया ! जो युद्ध आप-से-आप प्राप्त हो जाय, सामने आ जाय, वह युद्ध तो क्षत्रियके लिये स्वर्ग जानेका खुला दरवाजा है । ऐसा युद्ध जिन क्षत्रियोंको प्राप्त है, वे ही वास्तवमें सुखी हैं ।*

ऐसे अनायास प्राप्त युद्धको मैं न करूँ तो ?

अगर तू ऐसे धर्ममय युद्ध नहीं करेगा तो तेरे क्षात्र-धर्मका और तेरी कीर्तिका नाश होगा तथा तेरेको कर्तव्य-पालन न करनेका पाप लगेगा ।

अपकीर्तिसे क्या होगा ?

अरे भैया ! तू युद्ध नहीं करेगा तो सभी मनुष्य तेरी बहुत दिनोंतक रहनेवाली अपकीर्तिका कथन करेंगे, और आदरणीय, सम्माननीय पुरुषके लिये अपकीर्ति मृत्युसे† भी बढ़कर दुःखदायी होती है । और देख, जिन महारथियोंकी दृष्टिमें तू श्रेष्ठ माना गया है, उनकी दृष्टिमें तू तुच्छताको प्राप्त हो जायगा और वे महारथी तेरेको मरनेके भयके कारण युद्धसे उपरत हुआ मानेंगे ।

फिर क्या होगा भगवन् ?

फिर तो बहुत ही भयंकर बात होगी कि तेरे शत्रुओंको वैरभाव निकालनेका मौका मिल जायगा । वे तेरी सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए तुझे न कहनेलायक (तिरस्कृत) वचन कहेंगे । उससे बढ़कर और दुःख क्या होगा ?

अगर मैं युद्ध करूँ तो ?

युद्ध करते हुए अगर तू मर जायगा तो तुझे स्वर्ग मिल जायगा और अगर तू युद्धमें जीत जायगा तो तुझे पृथ्वीका राज्य मिल जायगा । अतः तू युद्धका निश्चय करके खड़ा हो जा ।

परन्तु भगवन् ! अगर मैं इनको मारनेके लिये खड़ा हो जाऊँ तो मेरेको पाप ही तो लगेगा ?

नहीं ! तू जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखमें सम होकर युद्ध कर, फिर तुझे पाप नहीं लगेगा ।

तो फिर युद्ध कैसे करना चाहिये भगवन् ?

समता—समबुद्धि रखकर ।

(क्रमशः)

* भोगोंका मिलना कोई सुख नहीं है; प्रत्युत वह तो महान् दुःखोंका कारण है (५ । २२) ।

सुख तो वही है, जो दुःखसे रहित है । दुःखसे रहित सुख यही है कि स्वधर्मरूप कर्तव्य कर्म करनेका अवसर मिल जाय। कर्तव्यका तत्परतासे पालन करना ही वास्तवमें सुखी होना है और ऐसा सुखी होना ही भाग्यशालीपन है ।

† मरनेमात्रसे अपकीर्ति नहीं होती, क्योंकि मरना तो हरेकको होता ही है । अपकीर्ति तो अपने कर्तव्यसे च्युत होनेसे ही होती है ।

विभिन्न प्रकारके स्नान

(लेखक—पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री श्रीदेवरहवाबाबाके उपदेश)

स्नानको संध्या, तर्पण, होम, ब्रह्मयज्ञ, देवार्चाआदि भारतीय संस्कृतिके प्राण—षट्कर्मोंमें प्रधान तथा सभी सत्कर्मोंका आधार कहा गया है। इस स्नानके भी नित्य, नैमित्तिक, अवभृथ आदि अनेक भेद हैं। उनमें इस नित्यस्नानके प्रायः १० भेद प्रधान हैं। मुख्य-स्नानविधाननिर्देशक ग्रन्थोंमें कात्यायनस्नानसूत्र-परिशिष्ट, स्नान-दीपिका, स्नान-सूत्रभाष्य, स्नानव्यास, दक्ष-स्नान-पद्धति (अ० २) वायु-पद्म आदिपुराणोंके माघ-कार्तिक-वैशाख-माहात्म्य एवं नर्मदा-गौतमी आदिके माहात्म्य विशेष उल्लेख्य हैं। इन सभीमें गङ्गा आदिमें जलद्वारा किया गया प्रातःकालिक वारुण-स्नान ही प्रमुख कहा गया है। कूर्म एवं गरुड़पुराण आदिका कथन है—

प्रातःस्नानेन पूयन्ते येऽपि पापकृतो जनाः।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन प्रातःस्नानं समाचरेत्॥
प्रातःस्नानं प्रशंसन्ति दृष्टादृष्टकरं हि तत्।
ऋषीणामृषिता नित्यं प्रातःस्नानान्न संशयः॥
मुखे सुप्तस्य सततं लाला याः संस्रवन्ति हि।
ततो नैवाचरेत् कर्म ह्यकृत्वा स्नानमादितः॥
अलक्ष्मीः कालकर्णी च दुःस्वप्नं दुर्विचिन्तितम्।
प्रातःस्नानेन पापानि पूयन्ते नात्र संशयः॥
अतः स्नानं विना पुंसां पापित्वं कर्मसु स्मृतम्।
होमे जाप्ये विशेषेण तस्मात् स्नानं समाचरेत्॥
(कूर्मपु० उ० १८। ५-९, गरुड ५०। ५-१०, दक्ष २)

'पातकिजन भी प्रातःस्नानसे शुद्ध हो जाते हैं। अतः सारे प्रयत्नोंद्वारा मनुष्य प्रातः-स्नान करे। देवता-मुनि सभी श्रेयस्कर प्रातःस्नानकी प्रशंसा करते हैं। ऋषियोंके ऋषित्वका भी मुख्य कारण यही रहा है। सोने-पर मुँहसे लार आदि बहकर अशुद्धि होती है, अतः बिना नहाये कोई श्रेष्ठ कर्म न करे। प्रातः-स्नानसे दुःख, दारिद्र्य, दुःस्वप्न, पापचिन्तन, दुरदृष्ट, पापादि दूर हो जाते हैं। बिना नहाये कोई भी व्यक्ति जप, यज्ञ, हवनादिमें अधिकृत नहीं होता, अतः प्रातःकालिक वारुण-स्नान अवश्य करे।' यह प्राजापत्य यज्ञके तुल्य है—

उषस्युषसि यत् स्नानं संध्यायामुदिते रवौ।
प्राजापत्येन तत्तुल्यं सर्वपापापनोदनम्॥
(दक्ष २। १०)

अशक्तावशिरस्कं वा स्नानमस्य विधीयते।
आर्द्रेण वाससावाथ मार्जनं पावनं स्मृतम्॥
आयत्ये वै समुत्पन्ने स्नानमेवं समाचरेत्।
ब्राह्मादीनामथाशक्तौ स्नानान्याहुर्मनीषिणः॥
ब्राह्ममाग्नेयमुद्दिष्टं वायव्यं दिव्यमेव च।
वारुणं यौगिकं यच्च षोढा स्नानं समासतः॥
ब्राह्मं तु मार्जनं मन्त्रैः कुशैः सोदकबिन्दुभिः।
आग्नेयं भस्मना पादमस्तकाद् देहधूलनम्॥
गवां हि रजसा प्रोक्तं वायव्यं स्नानमुत्तमम्।
यत्तु सातपवर्षेण स्नानं तद् दिव्यमुच्यते॥
वारुणं चावगाहस्तु मानसं स्वात्मवेदनम्।
योगिनां स्नानमाख्यातं योगे विश्वादिचिन्तनम्॥
आत्मतीर्थमितिख्यातं विहितं ब्रह्मवादिभिः।
मनःशुद्धिकरं पुंसां नित्यं तत् स्नानमाचरेत्॥
शक्तश्चेद् वारुणं विद्वान् प्रायश्चित्ते तथैव च।
(कूर्मपुराण, उत्तर १८। ९—१७½)

अस्वस्थ होनेसे व्यक्ति यदि वारुण-(नदी, सरोवर, कूपादिके जल-) स्नानमें अशक्त हो तो गीले वस्त्रसे शरीर पोंछकर कुशादिसे मार्जन करे। किंतु आवश्यक, प्रायश्चित्त, अवभृथ आदिमें जलस्नान ही करे। विद्वानोंने अशक्तके लिये ही अन्य षोढा, दशधा या द्वादशविध स्नान बतलाये हैं। यहाँ संक्षेपमें इनमेंसे कुछका परिचय दिया जा रहा है।

१—वारुणस्नान—यही प्रधान एवं वास्तविक स्नान है। समस्त तीर्थमाहात्म्यों तथा कार्तिक, माघ, वैशाखादिके माहात्म्योंमें इसकी विस्तारसे विधि निर्दिष्ट

है। गङ्गादि नदियों एवं तीर्थोंके जलमें गोते लगाकर विधि-पूर्वक नहाना वारुणस्नान है । नदी आदिके अभावमें झील, सरोवर, देवखातादिमें या कूपादिपर स्नान करना चाहिये। इस स्नानकी विधि-निर्देशपर हेमाद्रि, आह्निकसूत्रावलियों, आह्निककारिकाओं आदिमें बड़ा विस्तृत विचार है । इसमें भी प्रातः, मध्याह्न, सायंकालों, ग्रहणादि पर्वों, विवाह, अभिषेकादिमें, मङ्गलस्नान, निमित्तों, श्रावणी आदि पर्वोंके स्नान-विधान भिन्न हैं । प्रातः स्नानादिमें केश, पुष्प, गंध, तिलादि भी प्रयोज्य हैं । जिनके बाल बड़े हों, पिता जीवित हों, उन्हें स्नानके समय केश, शिखादि दाहिनी ओर लटकाना चाहिये । गोते लगाते समय नाक-कान आदि ९ छिद्रोंको बन्दकर मूसलस्नान करना चाहिये।

इस वारुणस्नानके भी सशिरस्क, अशिरस्क, आकण्ठ, कटिस्नानादि कई भेद हैं । नदीमें प्रवाहाभिमुख तथा अन्यत्र सूर्यमुख होकर स्नान करना चाहिये। स्नानके पूर्व नारायण, वरुण, गङ्गादिका स्मरण-स्तवन, संकल्प, जलावर्तन आदि कार्य हैं । इन्हें पुराण, स्मृति, आह्निकोंसे अवश्य जानना चाहिये ।

२—दूसरा कापिल-स्नान है । इसमें गीले वस्त्रसे शरीर पोंछकर मन्त्र-पाठ करनेकी विधि है ।

३—तीसरा स्नान 'ब्राह्मस्नान' है । इसमें कुशद्वारा जल-विन्दुओंसे **'आपो हि ष्ठा'** आदि मन्त्रोंसे मार्जन करते हैं । इस स्नानके साथ वेदमन्त्रोंका, फिर गीता, रामायण आदिका पाठ करते हैं । यह भी स्नानका एक भेद है । मनुष्य अपने अभ्यास या संस्कारसे अपने स्वभावके अनुसार थोड़ी देर ही सही, नियमपूर्वक स्वयं पाठ करता है। इसीसे यह 'ब्राह्मस्नान' कहलाता है।

४—चौथा स्नान 'भौम' या पार्थिव 'स्नान' कहा जाता है। इसमें शरीरमें मिट्टीका भी प्रयोग होता है । वर्षाऋतुमें जब आकाशसे जल गिरता है तो बच्चे बड़े प्रेमसे आसमानके नीचे अपने बदनमें मिट्टी लगाकर वर्षाके जलसे धोते हैं । परिवारके लोग बच्चोंको इस प्रकार स्नान करते देखकर प्रसन्न होते हैं । इस स्नानसे भी हमारे शरीरको बड़ा लाभ होता है । भौमस्नानसे शरीरको फोड़ा-फुन्सीके रोगसे मुक्ति हो जाती है। कभी-कभी बड़े लोग भी मिट्टीके द्वारा वर्षाऋतुमें इस स्नानका बड़े चावसे अभ्यास करते हैं । गृहस्थलोग धानके रोपनेमें अपने-अपने खेतोंमें वर्षाऋतुमें ऐसा करनेमें कोई संकोच नहीं करते हैं । कृषक लोगोंमें यह स्नान स्वाभाविक है ।

*

५—पाँचवा स्नान है—आग्नेयस्नान। यह स्नान साधु-संतोंमें विशेषरूपसे प्रचलित है । साधु-संत स्नानके बाद अपने शरीरमें होमकी विभूति लगाते हैं। होमकी विभूतिको बहुत लाभदायक माना गया है। आजकल सब जगह होम तो नहीं होता जिससे सबको आसानीसे होमकी राख प्राप्त हो जाय । अतः भस्म-धारण एवं निर्माणकी विशेष विधि भस्मजाबालोपनिषद् सौरपुराण आदिमें देखना चाहिये ।

६—छठा स्नान वायव्य है। 'वायव्य स्नान' उसको कहते हैं, जो गौओंके खुरसे उड़ती हुई धूलसे सम्बद्ध होता है । गायोंके चरवाहोंको प्रायः यह स्नान सुलभ होता रहता है ।

७—सातवाँ स्नान है—दिव्यस्नान । यह स्नान दिनमें धूपमें होता है । प्रायः वर्षाऋतुमें यह देखा गया है कि कभी-कभी धूप रहते भी किसी स्थानपर वृष्टि हो जाती है । वर्षा और धूप जब एक साथ हो, उस समय स्वर्ग-गङ्गाके जल गिरते हैं । क्षणमात्रका स्नान भी पापनाशक है । इसका विस्तृत विवरण विष्णुपुराणमें है ।

८—आठवाँ मानसस्नान है । यह मानस-तीर्थमें भगवान्के स्मरणमात्रसे होता है । जो भगवान्का दृढ़ स्मरण करते हैं वे शुद्ध हो जाते हैं । अतः वह एक

स्नान हो जाता है। कहा है—'यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ।' भगवान्‌के स्मरणसे शरीरके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग शुद्ध हो जाते हैं—'यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम् ।'

९—नवाँ स्नान यौगिक है। यह योगियोंद्वारा आत्म-तीर्थमें ध्यान-धारणादिद्वारा सम्पन्न होता है। इसमें समस्त जीवनिकाय-सहित विश्वको परमात्मामें स्थित देखना होता है। यह यौगिक स्नान भी असाधारण है।

१०—दक्ष (३ । १७)के अनुसार (व्रत-स्नान) भी उत्तम कारण है। इसलिये वेदव्रतीको स्नातक कहते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य भी कुछ स्नान हैं, उन्हें आह्निकीमें देखना चाहिये। अपनी योग्यता, पात्रता और सौविध्यसे इन स्नानोंको करना चाहिये।

इस विषयमें व्यासजीके स्नान-व्यास, दक्षस्नान-विधि एवं कात्यायनके स्नानसूत्र—ये ग्रन्थ विशेषरूपसे प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त कूर्मपुराण २ । १८, गरुड-पुराण, नृसिंहपुराण आदिमें भी ब्राह्म, कापिल आदि १२ स्नान निर्दिष्ट हैं। प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसाद, एडवोकेट

नवधा भक्ति

पाद-सेवन

(कहानी)

(लेखक—श्रीसुदर्शन सिंहजी 'चक्र')

कर नित करहिं राम पद पूजा। राम भरोस हृदयँ नहिं दूजा ॥
चरन रामतीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं ॥

गुणका परिचय तो साथ रहनेसे, अवसर मिलनेसे होता है। मानस-नेत्रोंको प्रसन्न होनेमें समय लगता है। ये चर्म-चक्षु तो चर्म ही देखते हैं। बाह्य ही पहले आकर्षित करता है। ब्रह्माने उसे बड़ी जल्दीमें बनाया होगा। सम्भवतः किसी दूसरे काममें लगे होंगे और उसे झटपट बिना देखे गढ़ दिया होगा। आँखें छोटी-छोटी भीतर घुसी, नाक कुछ चपटी, लंबा मुख और बड़ा-सा सिर। हाथ, पैर प्रभृति कोई भी आकर्षक नहीं कहा जा सकता। इस ढाँचेपर कोई अच्छा रंग पोत देते तो भी कुशल थी। रंग पोतना ही भूल गये। फलतः वह सब रंगोंके अभावकी द्योतक कृष्णाङ्गी थी।

एक सौभाग्य मिला था उसे। बड़े घरकी लड़की थी। उमाकान्तजीकी अपार सम्पत्तिकी स्वामिनी एकमात्र उनकी कन्या गौरी ही थी। लड़कीका नामकरण शायद माता-पिताने उसके स्वरूपकी भावना दबा देनेके लिये किया था। सम्पत्तिके कारण वह नवीनचन्द्र बी० ए० की परिणीता हो गयी। न तो उसका फोटो मँगाया गया और न उसे कोई देखने ही गया! पिताकी ओरसे प्रस्ताव हुआ और पतिकुलने स्वीकार कर लिया। गाजे-बाजे, धूम-धाम और वेद-ध्वनिके बीच उसकी गाँठ जुड़ गयी।

ससुराल आते ही उसे निराश और दुःखी होना था। हुआ कुछ नहीं उसे। जो भी मुख देखने आयीं उन्होंने मुख बना लिया। किसी-किसीने कुछ कह भी दिया। सासके उपहार छोटे हो गये। इन सबकी वह पुरानी अभ्यस्त है। बचपनमें मुहल्लेके छोटे बच्चे उसे 'काली कुत्ती राम-राम !' किया करते थे, तब वह खीझती थी। अबतक सहेलियाँ उसे गौरी कहते ही मुसकरा पड़ती हैं। वह अब अभ्यस्त हो गयी है। यह सब अब उसे बुरा नहीं लगता। यहाँका व्यवहार भी उसके हृदयको छू नहीं सका।

उसकी माता एक प्रवीण माता हैं। उन्होंने लड़कीको समझाकर इस अपमानका रहस्य बता दिया है। वह जानती है कि चार दिनमें ये सब जो आज मुँह बना रही हैं, उसका मुँह देखा करेंगी। उसके गाँवमें यही हुआ है और कोई कारण नहीं कि यहाँ भी न हो। उसे घरके काममें हाथ लगानेका अवसरभर मिलना चाहिये। जब वह सूई और रेशम लेकर बैठेगी, ये सब उसके हाथ जोड़ेंगी 'यह फूल काढ़ना हमें भी सिखा दो!' बीमारीमें उन्हें सेवाके लिये भी तो एक दक्ष व्यक्ति चाहिये। उसकी माताने अपनी लाड़लीके काले शरीरके अंदर वह उज्ज्वलता भर दी है कि परिचय होनेके पश्चात् कोई उसका असम्मान नहीं कर सकता। उसके आगे सिर झुकाना ही पड़ता है।

'यह तो होना ही था!' उसने अपनेको स्वतः आश्वस्त कर लिया। 'जब परिचयमें आ जावेंगे, तब सब ठीक हो जायेगा!' वह पहलेसे इसके लिये प्रस्तुत थी। कोई दुःख नहीं हुआ उसे। चुपचाप लेट गयी और पता नहीं कैसे रात्रि बीत गयी। जब उसने नेत्र खोले, पूर्वमें सूर्य भगवान् आनेकी सूचना दे रहे थे। बंद किवाड़ोंमेंसे भी प्रकाश भीतर आ रहा था और लैंप फीका जान पड़ने लगा था। वह हड़बड़ाकर उठ बैठी।

पता नहीं, कितनी आशा, कितनी उमंगें लिये नवीन उसके कमरेमें आया था। आवरण ही आकर्षक होता है। उसका लाया शृङ्गार-दान अब भी मेजपर पड़ा है। उसमें क्या-क्या है? वह अबतक देख नहीं सकी है। उसने तो पहले ही अपना मार्ग निश्चित कर लिया था। उपहारकी उसे आवश्यकता नहीं थी। अपने आराध्य चरणोंको उसने अवगुण्ठनके अंदरसे देखा—खूब अच्छी तरह देखा और फिर उनपर मस्तक रख दिया। तबतक भी वह सिर झुकाये उन चरणोंको ही देख रही थी, जब उन्होंने दोनों हाथोंसे उठाकर उसे पलंग-पर अपने पास बैठा लिया और धीरेसे उसका अवगुण्ठन उठा दिया। तब भी वह चरणोंको ही देख रही थी, जब वे चौंककर पीछे सरक गये, जैसे कोई अचानक सर्प देखकर चौंके। और तब भी वह चरणोंको ही देख रही थी, जब वे उठे और पीठ फेरकर द्वार खोलकर बाहर चले गये।

उसने उठकर द्वार बंद कर लिया आध घंटे बाद। तबतक वह ध्यानस्थ रही। उसने आगे-पीछेसे चरणोंको भलीभाँति देख लिया था, क्योंकि अपने खटपट करने-वाले बूट वे सम्भवतः छोड़ आये थे। केवल एक चप्पल था पैरोंमें। अच्छी तरह उसने हृदयमें उन चरणोंको स्थापित कर लिया। प्रातः उसपर जो व्यङ्ग-वर्षा हुई, उसने उसे कोई पीड़ा नहीं दी। नित्यकर्मसे निवृत्त होते ही उसने अपना कमरा बंद कर लिया भीतरसे। वह तब खुला, जब पेंसिलने कागजपर दो चरण अच्छी तरह अङ्कित कर लिये।

× × ×

(२)

'बहू, तुम्हारे पिताका यह तीसरा बुलावा है। क्या लिख दिया जाय उन्हें?' सासने अब उसकी महत्ता स्वीकार कर ली है। वे उसे भेजना चाहती नहीं, पर अपने नवीनके व्यवहारसे वे दुखी हैं। वह जाना चाहे तो जी बहला आवे। यहाँ उसका मन कैसे लगेगा। 'मैं पिताजीको आनेके लिये पत्र लिख देती हूँ।' उसने उत्तर दिया।

घरके कामोंसे सबको छुट्टी हो गयी। वह अकेली ही नौकरोंको सँभाल लेती है। नौकर भी उससे प्रसन्न हैं। किसीको गणेश और किसीको हनुमान्‌जीकी तस्वीरें दे दी हैं उसने। सासको तो उसके हाथों स्नान कराये जानेपर ही सुख मिलता है। उनके पूजनकी सामग्री भी वही सजाती है। उसने बड़ा सुन्दर चित्र शङ्करजीका

बना दिया है उनके लिये । घरके सभी चद्दरों, तकियों और मेजपोशोंपर उसके हाथकी छाप है । इतनेपर भी रात्रिमें वह तबतक सासके पैर दाबनेका अवकाश पा जाती है, जबतक उन्हें निद्रा न आ जाय ।

उसकी सहेलियाँ यहाँ भी उसे घेरे रहती हैं । किसीको चित्र सीखना है और किसीको बेल-बूटे काढ़ने । कोई चोटी गूँथनेका वह अद्भुत ढंग जानना चाहती है और कोई इसराज बजाना । निराश वह किसीको करती नहीं । बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ अब उसकी प्रशंसा करते नहीं थकतीं । उनका सिर दुखे तो 'बाम' लेकर वही तो पहुँचती है । लल्लूको खाँसी आनेपर गोलियाँ उसीसे लेनी पड़ती हैं । 'वह लक्ष्मी है——लक्ष्मी !'

सबकी खटपट और आदर-स्वागत करके भी वह घरके कामसे समय पा जाती है और अपने निश्चित समयपर स्नानके पश्चात् कमरा बंद करके उन पेंसिलसे बने चरणोंपर फूल चढ़ाकर कुछ करती रहती है । आँखें बंद करके मन-ही-मन उसने पहले उनके चरणोंपर ही एक कोनेमें खड़े होकर दो फूल चढ़ा दिये थे । वरमें भोजन करने आये थे । एक दिन कुछ न बोले । दूसरे दिन बिगड़ पड़े, 'मुझे यह सब ढोंग पसंद नहीं !' तबसे वह इन चित्रोंपर ही फूल चढ़ाती है ।

सब प्रसन्न हुए, संतुष्ट हुए, पर देवता ? वह जानती है कि देवताको संतुष्ट करनेके लिये साधना चाहिये । उसने इतनी साधना की नहीं है । समय आयेगा तब उसकी साधना पूर्ण हो जायगी और तब देवता भी ····।

नवीन उसके प्रति रूखा है, वह उससे अलग-अलग रहना चाहता है । साथ ही डरता भी है कि कहीं वह पिताके घर रहने लगी तो सम्पत्ति हाथसे चली जायगी । फिर भी हृदय उस कुरूपको फिर देखना नहीं चाहता । इसीसे वह आजकल पढ़ाईमें जुट गया है । एम्०ए० करेगा । दिनभर युनिवर्सिटीमें और रात्रिको पढ़नेके कमरेमें । ग्यारह बजेतक पुस्तकोंमें जुटा रहता है और वहीं सो रहता है । वैसे उसके कमरेके चित्र, तकियेके पुष्प, चद्दरके ऊपर बने पक्षी और मेजपोशपरका कमल किसीके करोंको चूम लेनेको उत्सुक करते हैं । नेत्रोंने जो देखा है——मन भड़क उठता है ।

जानता है कि माँ उसे बहुत मानती हैं । यह भी जानता है कि वह जो नवीनसे छिपी रहती है, घरमें बूटकी ध्वनि पहुँचते ही कहीं दुबक जाती है वह इधर कष्टके ध्यानसे । 'कहीं उन्हें बुरा न लगे' यह सोचकर ही । दूसरी बार फिर उसे देखनेका अवसर नहीं आया । वह अवसर नहीं आने देना चाहता तो कैसे आता ? फिर भी उसे पिताके यहाँ भेजना पसंद नहीं । इसीसे इस प्रकारका प्रश्न आनेपर वह माँपर छोड़ देता है ।

उसके पिता आये । यहाँ न तो उन्हें भोजन करना था और न जल पीना । दामादके व्यवहारका, पता नहीं कैसे उन्हें पता लग गया था । यह उन्होंने बातों-बातोंमें संकेतसे कह दिया । लड़कीसे मिलकर अकेले ही लौट गये वे । आये तो लिवाकर संग जानेके लिये । बड़ी देरतक पिता-पुत्री पता नहीं क्या-क्या बातें करते रहे । रूमालसे आँखें पोंछते वे वहाँसे निकले और सीधे मोटरमें चले गये ।

'जहाँ उनके चरण पड़ते हैं, वह मेरा तीर्थ है । उसे छोड़कर मैं कहाँ जा सकती हूँ ।' सासके पूछनेपर उसने छोटा-सा उत्तर दिया——'पिताजी प्रसन्न ही होकर लौटे हैं' । सासने उसे हृदयसे लगा लिया । उसे अपने नवीनपर क्रोध आ रहा था । 'इस लक्ष्मीको वह कब पहचानेगा ?' उनके नेत्र भी सूखे नहीं थे ।

'रोओ मत माँ !' उसने अञ्चलसे अश्रु पोंछ दिये सासके। 'मैं दुखी तो हूँ नहीं। दिनमें कम-से-कम दो बार तो अवश्य ही उनके चरणोंके दर्शन हो जाते हैं, मुझे और क्या चाहिये ? मैं तो उन्हें प्रणाम करके ही कृतार्थ हो जाती हूँ।' सचमुच उसके स्वरोंमें हर्ष ही था। उनमें कम्प या करुणाका नाम नहीं था। वृद्धा अपलक नयनोंसे उसके उस कुरूप मुखको देख रही थी। 'कितना सौन्दर्य है इसमें! नवीन क्यों नहीं इसे देख पाता।' वह मन-ही-मन सोच रही थी।

× × ×

(३)

'कल वे आ रहे हैं ?' उसने अपने-आप ही कहा और कमरा बंद कर लिया। जबसे नवीन विलायत गया है, उसपर विशेष कृपा हुई है। दूसरे महीनेसे सप्ताहमें एक पत्र अवश्य आता है माँके पास। माँका तो नामभर होता है पत्र तो उसीके लिये लिखा जाता है। इधर तो रोज पत्र आ जाता है एक महीनेसे।

'कल शाम चार बजे तुम्हारे द्वारपर यह जन उपस्थित मिलेगा !' कितने विचित्र हैं। किस जहाजसे कहाँ उतरेंगे, सो कुछ नहीं। हवाई जहाजसे आते हों तो भी हवाई स्टेशन पहुँचनेका समय देना था ! कोई कहीं लेने नहीं जा सकेगा। नवीनने अचानक घर पहुँचकर सबको—विशेषतः उसे चौंका देनेके विचारसे किसीको सूचना नहीं दी थी कि वह हवाई जहाजसे आ रहा है।

जबसे उसके 'वे' विलायत गये हैं, कमरेके बंद रहनेका समय बढ़ता ही गया है। पहले चित्रित चरण केवल पुष्प और प्रणाम पाते थे, धीरे-धीरे धूप, दीप और नैवेद्य भी उन्हें प्राप्त हो गये। अब तो वे एक सुन्दर सिंहासनपर रेशमके बेल-बूटेदार आसनपर आसीन हैं। पूजाके सभी उपकरण उन्हें प्राप्त हो चुके हैं।

सखी-सहेलियोंकी संख्या घटने लगी। उन्हें अब कई बार चक्कर लगानेपर कहीं एकाध बातें सीखनेको मिल पाती हैं। धीरे-धीरे जब उसे समयाभाव हो गया तो सहेलियोंने आना भी बंद कर दिया। आस-पासकी वृद्धाएँ उसे अभिमानिनी कहने लगीं। अब लल्लूके बीमार होनेके समाचारपर भी वह द्वार नहीं खोलती। केवल सासको उसकी चिन्ता है। वे घरके कामको न देखने या अपनी सेवा न करनेकी उलाहना नहीं देतीं। उन्हें यही शिकायत है कि 'बहू क्यों तेल नहीं लगाती, गहने नहीं पहनती और सब न सही—भरपेट खाती क्यों नहीं ? वह घुली क्यों जा रही है ?' दिनभर पूजा और रात्रिभर पूजा उन्हें पसंद नहीं।

सबेरे स्नान तो कर लेती है और कमरा बंद हो जाता है। पहले नौकरोंके पुकारनेपर, किसी कामके होनेपर उठ आती थी। फिर केवल दोनों समय भोजनके लिये आने लगी और फिर शामको भोजन बंद हो गया। भोजनके लिये भी नौकरानी न पुकारे तो कमरा न खुले। इधर एक महीनेसे तो सास जब स्वयं जाकर कई बार पुकारती है, तो द्वार खुलता है। वह भी इसलिये कि एक दिन द्वार नहीं खुला तो वे वृद्धा भी भूखी ही रह गयीं। अतः अब 'बेटी ! मैं भी अब पड़ रहती हूँ !' कहनेपर द्वार खुल जाता है। दो-चार ग्रास खा ही लेती है और फिर कमरा बंद।

'पृथ्वी खोदकर एक सुन्दर-श्याम जटिल तरुणने कुशासन बिछा लिया है। उसपर न तो मृगचर्म है और न वल्कल। घुटनोंके बल बैठा है वह हाथ जोड़े। कमरमें बल्कल है और कंधेपर केवल यज्ञोपवीत। अत्यन्त दुर्बल है वह। नेत्रोंसे दो

धाराएँ बह रही हैं। हाथ जोड़े वह कुछ जप रहा है। ओष्ठ हिल रहे हैं। सम्मुख एक मणिमण्डित स्वर्णसिंहासन है। रत्नजटित चौकी नीचे और बहुमूल्य स्तरणके ऊपर उस सिंहासनपर चन्दनकी दो पादुकाएँ हैं। पुष्पोंसे आच्छादित होनेके कारण कह नहीं सकते कि उनपर अंगुलियोंके चिह्न घिसकर बने हैं या नहीं। दोनों ओर धूपदानी सुगन्धित बादल निकाल रही हैं और रत्न-पुटिकाओंमें दीपक जल रहे हैं।' पता नहीं आज क्यों वह यह सब देख रही थी।

तस्वीरने सिर झुकाया। यह क्या? पादुकाओंपर दो अरुण श्यामल चरण आ विराजे। ठीक उसी तपस्वीकी प्रतिमूर्ति मुसकराती खड़ी थी। वह सौन्दर्यघन मूर्ति प्रसन्न और कुछ पुष्ट थी। उसने ऊपरतक देखकर चरणोंपर दृष्टि डाली। लाल-लाल फूल-से कोमल और नखोंके अपार प्रकाशमें अबीर बरसाते तलवे! उसने भी मस्तक झुकाना चाहा।

'हैं, ये तो उसके परिचित वे आराध्य चरण हैं!' वह चौंकी। चरण बढ़ रहे थे और उनमें अपार विराट् मूर्त होता जा रहा था। पृथ्वी-पहाड़, नदी-समुद्र, मानव-पशु, नभ-नक्षत्र, असुर-देवता, पता नहीं, क्या-क्या उनमें वह देख रही थी। कुछ ठिकाना था उस अद्भुत अनन्त दृश्यका?

घबड़ाकर नेत्र खोल दिये। 'वही परिचित आराध्य चरण तो वे हैं!' सामनेसे तनिक हटकर चार-पाँच पद दूर खड़े नवीनचन्दके चरणोंको उसने देख लिया था 'बड़े छली हो तुम!' वह उधर झपटी। आज उसकी साधना पूर्ण हो गयी सम्भवतः। देवताके प्रत्यक्ष चरण नहीं तो, कैसे पा सकती?

× × ×

(४)

उसने पत्नीकी कलाको इतना नहीं समझा था। आदर तो करता था, मुग्ध था, पर इतना महत्त्व नहीं देता था। जहाजमें ही उसको पता लगा। वह आयरिश युवक, जिससे तीन दिनमें ही उसने मित्रता कर ली थी, इसके केबिनमें आकर चौंक गया। तकिये और चद्दरकी कारीगरी उसने इतनी सुन्दर नहीं देखी थी। फिर तो उसका केबिन प्रदर्शनी बन गया और वह जहाजमें एक प्रधान पुरुष हो गया। दुःख था—वह उसके चित्रोंका एक अलबम् नहीं साथ लाया।

पता नहीं—कैसे यूरोपमें उससे पहले ही उसके तकिये और चद्दरका परिचय पहुँच गया। जहाजपर कइयोंने फोटो लिये थे। संकोचके कारण वह उनपर अंकित 'गौरी' का परिचय नहीं देना चाहता था। बन्दरगाहोंपर संवाददाताओंने उससे अनेक प्रश्न किये और विवशतः उसे ट्रंकसे सब चद्दरों और लाये हुए तीनों चित्रोंका कई बार फोटो देना पड़ा। एक फ्रेंचने लौटनेतक उसका पीछा किया और अन्तमें एक चद्दर और तकियेकी एक खोली उसके हाथ उसे पाँच सौ पाउंडमें बेचनी ही पड़ी।

इन कलापूर्ण चित्रोंने उसे बहुत प्रसिद्ध कर दिया। वह केवल छात्र नहीं रह गया। उसे सब प्रकारकी सुविधाएँ सरल हो गयीं। पार्टियोंकी भरमार हो गयी उसके लिये। इस सम्मानकी वृद्धिके साथ-साथ पत्नीका सम्मान हृदयमें बढ़ा और अपनी कठोरतापर वह कई बार बच्चोंकी तरह रोया है। अपने कमरेमें रात्रिको तकियेमें मुख छिपाकर इस स्मृतिने उसे बहकने नहीं दिया। यों भी वह कठोर संयमी था, पर लालायित सौन्दर्य किसे लुब्ध नहीं करता। उसके लिये भीड़ थी। ऐसे प्रत्येक अवसरपर उसे छोटे-छोटे दो भरे नेत्र

अपनी ओर देखते जान पड़ते। एक चिपटी नाकका करुणमुख साकार हो जाता और तब उसे रोनेकी इच्छा होती। किसी प्रकार पिण्ड छुड़ाकर भागता।

जहाजसे उसने कोई पत्र घर लिखा ही नहीं। लन्दन आकर भी कुछ दिन मौन रहा। 'क्या लिखे !' समझमें नहीं आता था। घरपर उसने इतनी कठोरता दिखायी थी कि अब पत्र लिखनेका साहस नहीं होता था। केवल माँको लिखे और उसे कुछ न लिखे, यह तो और भी कठोरता होगी। अन्तमें उसने पत्र 'माँ'को लिखा। अपनी की गयी बर्बरताकी क्षमा माँगी। 'बहुत रूखा और कठोर व्यवहार करनेका उसे बहुत दुःख है।' माँने समझ लिया था कि यह सब किसके लिये है। क्योंकि उत्तरमें उसीका पत्र आ गया था।

'उस दिनको क्या वह भूल सकेगा ? पैदल जा रहा था। सड़क पार करनी थी। बड़ी तेजीसे निकला। इस उपनगरमें भी मोटरोंसे बचकर निकल जाना सरल नहीं है। किसी फलका छिलका था—पैर पड़ गया। फिसला और.........। कचूमर निकल गया होता। केवल एक इंच दूर अगला पहिया खड़ा था। मोटरोंकी पंक्ति रुक गयी थी। उसने उठकर ईश्वरको धन्यवाद देनेके बदले कुछ और ही सोचा और सिर झुका लिया। दो बूँदें सड़कके चिकने सीमेंटपर गिर पड़ीं। एक काला हाथ, स्वर्णकङ्कणसे हीन, पर दो चूड़ियोंसे चमकता बढ़ा था और मोटर रुक गयी थी। उसने वह हाथ कभी देखा है, जो अभी अदृश्य हो गया।

× × ×

'मैं उसे पुकारते-पुकारते थक गयी हूँ।' उसने मातासे सुना 'कल प्रातःसे भीतर बंद है और कोई उपाय दीखता नहीं ! तुम्हारे आनेकी सूचना उसे मिल गयी थी और सबेरेसे मैंने और नौकरोंने उसे बहुत पुकारा है !' बुढ़िया रो रही थी।

'दरवाजा तोड़ना होगा !' उसके मस्तकपर माताके हाथका तिलक लगा था। गलेमें फूलोंकी माला पड़ी थी। अभी सूट उतारे भी नहीं थे उसने। उसने ठीक द्वारपर आकर टैक्सी रोकी और दौड़कर माताके चरणोंसे लिपट गया। माँने गले लगाया और झटपट बहूको समाचार भेजा। इतनेपर भी द्वार नहीं खुला तो वह पुत्रके साथ स्वयं आयी है। 'हाय बहूको क्या हो गया ?' इस प्रसन्नतामें भी दैवने उसे दुःख दिया।

नवीन चकराया ! 'क्या हो गया है उसे ?' उसे जो कुछ माँने बताया, उसे वह ठीक समझ नहीं सका। बढ़ई बुलाया गया और किवाड़ उसने जरा-सा चौखटे छीलकर, कब्जे निकालकर हटा दिये। सबने देखा— कमरेमें गौरी शान्त बैठी है। एक स्निग्ध प्रकाश है और सामने सिंहासनपर एक चित्र, जिसमें केवल दो चरण बने हैं, फूलोंसे पूजित। माँके पुकारनेका कोई प्रभाव नहीं हुआ। नवीन आगे बढ़ आया।

चौंककर वह दो कदम पीछे हट गया सम्मुख आते ही ! एक दिन और वह हटा था इसी प्रकार इस कुरूप मुखको देखकर ! 'यह सौन्दर्य-राशि ! यह दिव्य ज्योति !' वह साहस नहीं कर सका छूनेका ! देवीके इस अपार तेजमें जो सौन्दर्य था, उसीने उसे पीछे ठेल दिया था। इसके लिये वह प्रस्तुत नहीं था। वह आया था उस कुरूपको अपनाने—आज कहाँ गया वह ?

भाग जाना चाहता था वहाँसे ! ऐसा कर नहीं सका। दो काली भुजाओंने झपटकर पैर कस लिये और चरणोंपर केशराशि बिखर उठी। गरम-गरम बिन्दु गिर रहे थे उनपर। वह भूल गया कि माता और सेवक भी पीछे खड़े हैं, और..........।

गीताका कर्मयोग—७१

[श्रीमद्भगवद्गीताके चौथे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या]

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क ६, पृष्ठ-संख्या ३८ से आगे]

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

भावार्थ—जैसे भलीभाँति प्रज्वलित अग्नि काष्ठादि सम्पूर्ण ईंधनोंको इस प्रकार भस्म कर देती है कि किंचित् भी ईंधन शेष नहीं रहता, ऐसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको इस प्रकार भस्म कर देती है कि कुछ भी कर्म शेष नहीं रहता । सम्पूर्ण कर्मोंके भस्म हो जानेपर संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका सर्वथा अभाव हो जाता है और एक परमात्मतत्त्व ही शेष रह जाता है ।

अन्वय—**अर्जुन, यथा, समिद्धः, अग्निः, एधांसि, भस्मसात्, कुरुते, तथा, ज्ञानाग्निः, सर्वकर्माणि, भस्मसात्' कुरुते ॥ ३७ ॥**

पद-व्याख्या—**अर्जुन**—हे अर्जुन !

यथा समिद्धः अग्निः एधांसि भस्मसात् कुरुते—जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको भस्ममय कर देती है ।

पिछले श्लोकमें भगवान्‌ने ज्ञानरूप नौकाके द्वारा सम्पूर्ण पाप-समुद्रको तरनेकी बात कही । उससे यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि पाप-समुद्र तो शेष रहता ही है, फिर उसका क्या होगा ? अतः भगवान् पुनः दूसरा दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि जैसे प्रज्वलित अग्नि काष्ठादि सम्पूर्ण ईंधनोंको इस प्रकार भस्म कर देती है कि उनका किञ्चित् भी अंश शेष नहीं रहता, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण पापोंको इस प्रकार भस्म कर देती है कि उनका किञ्चित् भी अंश शेष नहीं रहता ।

तथा ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते—वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देती है ।

जैसे अग्नि काष्ठको भस्म कर देती है, वैसे ही तत्त्वज्ञानरूप अग्नि संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण—तीनों कर्मोंको भस्म कर देती है । जैसे अग्निमें काष्ठका अत्यन्त अभाव हो जाता है, वैसे ही तत्त्वज्ञानमें सम्पूर्ण कर्मोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है । तात्पर्य यह है कि ज्ञान होनेपर कर्मोंसे अथवा संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है । सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका अनुभव नहीं होता, अपितु एक परमात्मतत्त्व ही शेष रहता है ।

वास्तवमें मात्र क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा होती हैं (गीता ३ । २७) । उन क्रियाओंसे अपना सम्बन्ध मान लेनेपर कार्य होते हैं । नाड़ियोंमें रक्त-प्रवाह होना, शरीरका बालकसे युवा होना, श्वासोंका आना-जाना, भोजनका पचना आदि क्रियाएँ जिस समष्टि प्रकृतिसे होती हैं, उसी प्रकृतिसे खाना-पीना, चलना, बैठना, देखना, बोलना आदि क्रियाएँ भी होती हैं । परंतु मनुष्य अज्ञानवश उन क्रियाओंसे अपना सम्बन्ध मान लेता है अर्थात् अपनेको उन क्रियाओंका कर्ता मान लेता है । इससे वे क्रियाएँ 'कर्म' बनकर मनुष्यको बाँध देती हैं । इस प्रकार माने हुए सम्बन्धसे ही कर्म होते हैं, अन्यथा क्रियाएँ ही होती हैं ।

तत्त्वज्ञान होनेपर संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण—तीनों कर्मोंसे किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं रहता *। कर्मोंसे

* तत्त्वज्ञान होनेके बाद अज्ञानके आश्रित रहनेवाला संचित नष्ट हो जाता है । प्रारब्धसे बना हुआ (ज्ञानी महापुरुषका कहलानेवाला) शरीर दीखता तो है, पर कर्तृत्वका अभाव होनेसे उससे नये कर्म नहीं बनते । शरीरमें प्रारब्धवश अनुकूलता-प्रतिकूलतारूप परिस्थिति आती है; परंतु भोक्ता न रहनेसे उनसे सुखी-दुःखी कोई नहीं होता ।

अपना सम्बन्ध न रहनेसे कर्म नहीं रहते, कर्मोंकी भस्म रह जाती है अर्थात् सभी कर्म अकर्म हो जाते हैं।

सम्बन्ध—अब भगवान् अगले श्लोकके पूर्वार्धमें तत्त्वज्ञानकी महिमा बतलाते हुए उत्तरार्धमें कर्मयोगकी विशेष महत्ता प्रकट करते हैं।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

भावार्थ—इस मनुष्यलोकमें जितनी भी पवित्र करनेवाली वस्तुएँ देखी जाती हैं, उनमें तत्त्वज्ञानके समान पवित्र करनेवाली वस्तु निःसन्देह दूसरी कोई नहीं है; कारण कि तत्त्वज्ञान परमात्मस्वरूप है। जिसका कर्मयोग भलीभाँति सिद्ध हो गया है, वह कर्मयोगी उस तत्त्वज्ञानका अन्य किसी व्यक्ति या साधनके बिना स्वयं अपने-आपमें ही अनुभव कर लेता है। कर्मयोग सिद्ध होनेपर उसे तत्त्वज्ञानका अनुभव होनेमें कोई सन्देह नहीं रहता, अपितु उसका अनुभव उसे अवश्य ही हो जाता है।

अन्वय—**इह, ज्ञानेन, सदृशम्, पवित्रम्, हि, न, विद्यते, योगसंसिद्धः, तत् (ज्ञानम्), कालेन, स्वयम्, आत्मनि, विन्दति ॥ ३८ ॥**

पद-व्याख्या—**इह**—इस मनुष्यलोकमें—

यहाँ **'इह'** पद मनुष्यलोकका वाचक है; क्योंकि सब-की-सब पवित्रता इस मनुष्यलोकमें ही प्राप्त की जाती है। पवित्रता प्राप्त करनेका अधिकार और अवसर मनुष्यशरीरमें ही है। ऐसा अधिकार किसी अन्य शरीरमें नहीं है। भिन्न-भिन्न लोकोंके अधिकार भी मनुष्यलोकमें ही मिलते हैं।

ज्ञानेन सदृशम् पवित्रम् हि न विद्यते—ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला दूसरा कोई साधन नहीं है।

संसारकी स्वतन्त्र सत्ताको माननेसे तथा उससे सुख लेनेकी इच्छासे ही सम्पूर्ण दोष, पाप उत्पन्न होते हैं (गीता ३ । ३७)। तत्त्वज्ञान होनेपर जब संसारकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं रहती, तब सम्पूर्ण पापोंका सर्वथा नाश हो जाता है और महान् पवित्रता आ जाती है। इसलिये संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला अन्य कोई साधन है ही नहीं।

संसारमें यज्ञ, दान, तप, पूजा, व्रत, उपवास, जप, ध्यान, प्राणायाम आदि जितने साधन हैं तथा गङ्गा, यमुना, गोदावरी आदि जितने तीर्थ हैं, वे सभी मनुष्यके पापोंका नाश करके उसे पवित्र करनेवाले हैं। परंतु उन सबमें भी तत्त्वज्ञानके समान पवित्र करनेवाला कोई भी साधन, तीर्थ आदि नहीं है; क्योंकि वे सब तत्त्वज्ञानके साधन हैं और तत्त्वज्ञान उन सबका साध्य है।

परमात्मा पवित्रोंके भी पवित्र हैं—**'पवित्राणां पवित्रम्'** (विष्णुसहस्र० १०)। उन्हीं परमपवित्र परमात्माका अनुभव करानेवाला होनेसे तत्त्वज्ञान भी अत्यन्त पवित्र है।

योगसंसिद्धः—जिसका योग भलीभाँति सिद्ध हो गया है (वह कर्मयोगी)—

जिसका कर्मयोग सिद्ध हो गया है अर्थात् कर्मयोगका अनुष्ठान साङ्गोपाङ्ग पूर्ण हो गया है, उस महापुरुषको यहाँ **'योगसंसिद्ध'** कहा गया है। छठे अध्यायके चौथे श्लोकमें उसीको **'योगारूढ'** कहा गया है। योगारूढ होना कर्मयोगकी अन्तिम अवस्था है। योगारूढ होते ही तत्त्वबोध हो जाता है। तत्त्वबोध हो जानेपर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद सर्वथा हो जाता है।

कर्मयोगकी मुख्य बात है—अपना कुछ भी न मानकर सम्पूर्ण कर्म संसारके हितके लिये करना, अपने लिये कुछ भी न करना—ऐसा करनेपर सामग्री और क्रियाशक्ति—

दोनोंका प्रवाह संसारकी सेवामें हो जाता है। संसारकी सेवामें प्रवाह होनेपर 'मैं सेवक हूँ' ऐसा (अहंका) भाव भी नहीं रहता अर्थात् सेवक (का अभिमान) नहीं रहता, केवल सेवा रह जाती है। इस प्रकार सेवक सेवा बनकर सेव्यमें लीन हो जाता है। फिर तो प्रकृतिके कार्य शरीर तथा संसारसे सर्वथा वियोग (सम्बन्ध-विच्छेद) हो जाता है। वियोग होनेपर संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रह जाती, केवल क्रिया रह जाती है। इसीको योगकी संसिद्धि अर्थात् सम्यक् सिद्धि कहते हैं।

भगवान्‌ने छठे अध्यायके तेईसवें श्लोकमें कहा है—'**तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्**' अर्थात् दुःखस्वरूप संसारसे जो संयोग माना हुआ है, उसके वियोगका नाम 'योग' है। तात्पर्य यह कि उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंसे अपने सुखके लिये सम्बन्ध जोड़ना ही दुःखोंका मूल कारण है। अतः उन वस्तुओंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर दुःखोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है और योग सिद्ध हो जाता है। जबतक संसारसे संयोग बना रहता है, तबतक 'भोग' होता है, 'योग' नहीं। संयोगका वियोग होनेसे योग सिद्ध हो जाता है अर्थात् परमात्मासे अपने स्वतःसिद्ध नित्ययोगका अनुभव हो जाता है। फिर तो मनुष्य कृतार्थ हो जाता है।

कर्म और फलकी ममता एवं आसक्तिसे ही 'योग'-का अनुभव नहीं होता। वस्तुतः कर्मों और पदार्थोंसे वास्तवमें सम्बन्ध-विच्छेद तो स्वतःसिद्ध है; कारण कि कर्म और पदार्थ तो अनित्य (आदि-अन्तवाले) हैं और अपना स्वरूप नित्य है। अनित्य कर्मोंसे नित्य स्वरूपको क्या मिल सकता है? इसलिये स्वरूपको कर्मोंके द्वारा कुछ नहीं पाना है—यह 'कर्मविज्ञान' है। कर्मविज्ञानका अनुभव होनेपर कर्मफलसे भी सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है अर्थात् कर्मजन्य सुख लेनेकी आसक्ति सर्वथा मिट जाती है, जिसके मिटते ही परमात्माके साथ अपने स्वाभाविक नित्य-सम्बन्धका अनुभव हो जाता है, जो 'योगविज्ञान' है। योगविज्ञान-का अनुभव होना ही योगकी संसिद्धि है।

तत् (ज्ञानम्) कालेन स्वयं आत्मनि विन्दति—उस- (तत्त्वज्ञान-) को अवश्य ही स्वयं अपने-आपमें पा लेता है।

जिस तत्त्वज्ञानसे सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जाते हैं और जिसके समान पवित्र करनेवाला संसारमें दूसरा कोई साधन नहीं है, उसी तत्त्वज्ञानको कर्मयोगी योगसंसिद्ध होनेपर अन्य किसी साधनके बिना स्वयं अपने-आपमें ही तत्काल प्राप्त कर लेता है—'**योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति**' (गीता ५। ६)। इस प्रकार अकेला कर्मयोग ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति करानेमें समर्थ है (गीता ५। ४-५)।

चौंतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने बतलाया था कि शास्त्रीय प्रणालीके अनुसार कर्मोंका त्याग करके गुरुके पास जानेपर वे तत्त्वज्ञानका उपदेश देंगे—'**उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानम्**'। किंतु गुरु तो उपदेश दे देंगे, पर उससे तत्त्वज्ञान हो ही जायगा—ऐसा सर्वथा आवश्यक नहीं है। फिर भी भगवान् यहाँ बतलाते हैं कि कर्मयोगकी प्रणालीसे कर्म करनेवाले मनुष्यको योगसंसिद्धि मिल जानेपर तत्त्वज्ञान हो ही जाता है। योगसंसिद्धिका परिणाम तत्त्वज्ञान है।

उपर्युक्त पदोंमें आया '**कालेन**' पद विशेष ध्यान देने योग्य है। भगवान्‌ने व्याकरणकी दृष्टिसे '**कालेन**' पद तृतीयामें प्रयुक्त करके यह बतलाया है कि कर्म-

योगसे अवश्यमेव तत्त्वज्ञान अथवा परमात्म-तत्त्वका अनुभव हो जाता है* ।

'स्वयम्' पद देनेका तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके लिये कर्मयोगीको किसी गुरुकी, ग्रन्थकी या दूसरे किसी साधनकी अपेक्षा नहीं है । कर्मयोगकी विधिसे कर्तव्य-कर्म करते हुए ही उसे अपने-आप तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जायगा ।

'आत्मनि विन्दति' पदोंका तात्पर्य है कि तत्त्व-ज्ञानको प्राप्त करनेके लिये कर्मयोगीको किसी दूसरी जगह जानेकी आवश्यकता नहीं है । कर्मयोग सिद्ध होनेपर उसे अपने-आपमें ही स्वतःसिद्ध तत्त्वज्ञानका अनुभव हो जाता है ।

परमात्मा सब जगह परिपूर्ण होनेसे अपनेमें भी हैं । जहाँ साधक 'मैं हूँ' रूपसे अपने-आपको मानता है, वहीं परमात्मा विराजमान हैं । परंतु परमात्मासे विमुख होकर संसारसे अपना सम्बन्ध मान लेनेके कारण अपने-आपमें स्थित परमात्माका अनुभव नहीं होता । कर्मयोगका भलीभाँति अनुष्ठान करनेसे जब संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है अर्थात् संसारसे तादात्म्य, ममता और कामना मिट जाती है, तब उसे अपने-आपमें ही तत्त्वका सुखपूर्वक अनुभव हो जाता है—**'निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते'** (गीता ५ । ३) ।

परमात्मतत्त्वका ज्ञान करणनिरपेक्ष है । इसलिये उसका अनुभव अपने-आपसे ही हो सकता है, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि करणोंसे नहीं । साधक किसी भी उपायसे तत्त्वको जाननेका प्रयत्न क्यों न करे, पर अन्तमें वह अपने-आपसे ही तत्त्वको जानेगा । श्रवण, मनन आदि साधन—तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेमें असम्भावना, विपरीत भावना आदि ज्ञानकी बाधाओंको दूर करनेवाले परम्परागत साधन—माने जा सकते हैं, पर वास्तविक बोध अपने-आपसे ही होता है†; कारण कि मन, बुद्धि आदि सब जड़ हैं । जड़के द्वारा उस चिन्मय तत्त्वको कैसे जाना जा सकता है, जो जड़से सर्वथा अतीत है ? वस्तुतः तत्त्वका अनुभव जड़के सम्बन्ध-विच्छेदसे होता है, जड़के द्वारा नहीं । जैसे आँखोंसे संसारको तो देखा जा सकता है, पर आँखोंसे आँखोंको नहीं देखा जा सकता । परंतु यह कहा जा सकता है कि जिससे देखते हैं, वही आँख है । इसी प्रकार जो सबको जाननेवाला है, उसे किसके द्वारा जाना जा सकता है ?—**'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'** (बृहदारण्यक० २ । ४ । १४) परन्तु जिससे सम्पूर्ण वस्तुओंका ज्ञान होता है, वही परमात्मतत्त्व है । (क्रमशः)

---

* 'कालेन'—इस शब्दमें 'कालाध्वनोरत्यन्तयोगे' (पाणिनिसूत्र २ । ३ । ५)—इससे प्राप्त द्वितीया विभक्तिका निषेध कर 'अपवर्गे तृतीया' (वही २ । ३ । ६)—इससे तृतीया विभक्ति हुई है । तृतीया विभक्ति वहीं होती है, जहाँ अवश्य फलप्राप्तिका अर्थात् कार्य अवश्य सिद्ध होनेका द्योतन होता है । परंतु जहाँ द्वितीया विभक्ति होती है, वहाँ अवश्य फलप्राप्तिका द्योतन नहीं होता; जैसे—'मासम् अधीते' पद द्वितीयामें प्रयुक्त होता है, तो इसका अर्थ है कि एक मासमें भी पूरा न पढ़ सका । परंतु यही पद यदि 'मासेन अधीते' इस प्रकार तृतीयामें प्रयुक्त होता है, तो इसका अर्थ है कि एक मासमें पूरा पढ़ लिया । इसी प्रकार भगवान्ने यहाँ द्वितीयामें 'कालम्' पद न देकर तृतीयामें 'कालेन' पद दिया है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि कर्मयोगसे अवश्य फलप्राप्ति (सिद्धि) होती है ।

† अपने-आपसे ही तत्त्वको जाननेकी बात गीतामें कई जगह आयी है; जैसे—

(१) आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते । (२ । ५५)
(२) यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः । आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ (३ । १७)
(३) उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् । (६ । ५)
(४) यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ (६ । २०)
(५) ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना । (१३ । २४)
(६) यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् । (१५ । ११)

अमृत-बिन्दु

सांसारिक पदार्थोंको लेकर जो अपनेको बड़ा मानता है, उसको ये सांसारिक पदार्थ तुच्छ बना देते हैं।

शरणागत भक्तको भजन करना नहीं पड़ता, प्रत्युत उसके द्वारा स्वतःस्वाभाविक भजन होता है।

आपसमें मतभेद होना और अपने मतके अनुसार साधन करके जीवन बनाना दोष नहीं है, प्रत्युत दूसरोंका मत बुरा लगना, उनके मतका खण्डन करना, उनके मतसे घृणा करना ही दोष है।

एक भगवान्‌के सिवाय ऐसी कोई चीज है ही नहीं, जो सदा हमारे साथ रहे और हम सदा उसके साथ रहें।

करना चाहते हो तो सेवा करो, जानना चाहते हो तो अपने-आपको जानो और मानना चाहते हो तो प्रभुको मानो—तीनोंका परिणाम एक ही होगा।

जैसे भगवान्‌का आश्रय कल्याण करनेवाला है, वैसे ही रुपये आदि उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका आश्रय पतन करनेवाला है।

प्राकृत पदार्थमात्रको महत्त्व देना अनर्थका मूल है।

विश्वास भगवान्‌पर ही करना चाहिये। उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंपर विश्वास करनेसे धोखा ही होगा, दुःख ही पाना पड़ेगा।

परमात्माके सङ्गसे योग और संसारके सङ्गसे भोग होता है।

सुखकी इच्छा, आशा और भोग—ये तीनों सम्पूर्ण दुःखोंके कारण हैं।

मनुष्य संसारमें जितनी चीजोंको अपनी और अपने लिये मानता है, उतना ही वह फँसता है।

परमात्मप्राप्तिमें विवेक, भाव और रागका त्याग जितना मूल्यवान् है, उतनी क्रिया मूल्यवान् नहीं है।

परमात्मा सब देश, काल आदिमें परिपूर्ण है। संसारकी सत्यता माननेसे ही मनुष्य परमात्मासे दूर होता है।

सुखकी इच्छाका त्याग करानेके लिये ही दुःख आता है।

जब प्रत्येक क्रियाका आदि-अन्त होता है, तब उसका फल अनन्त कैसे होगा? अतः अनन्त तत्त्व (परमात्मा) क्रियासाध्य नहीं है।

जैसे कलम बढ़िया होनेसे लिखाई तो बढ़िया हो सकती है, पर उससे लेखक बढ़िया नहीं हो जाता, ऐसे ही करण (अन्तःकरण) शुद्ध होनेसे क्रिया तो शुद्ध हो सकती है, पर उससे कर्ता शुद्ध नहीं हो जाता।

परमात्मप्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा होनेसे एक विरहाग्नि उत्पन्न होती है, जो अनन्त जन्मोंके पापोंका नाश करके परमात्मप्राप्ति करा देती है।

परमात्मप्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा न होनेमें खास कारण है—सांसारिक सुखकी इच्छा, आशा और भोग।

शरीर संसारमें स्थित है और स्वयं परमात्मामें स्थित है। अतः साधक अपनेको संसारमें स्थित न मानकर परमात्मामें ही अपनी स्थितिका अनुभव करे।

जहाँ मनुष्य अनुकूलतासे सुखी और प्रतिकूलतासे दुःखी होता है, वहाँ ही वह पाप-पुण्यसे बँधता है।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

वहाँ क्या जवाब दूँगी

घटनाको बीते अभी अधिक वर्ष नहीं हुए हैं। केरलके मुसलिम भाईके घरमें आग लगी। देखते-देखते उसकी लपलपाती लपटोंने घरको अपने उदरमें समेट लिया। उस बंधुके दो मासूम मुन्ने घरमें ही रह गये थे। भारी भरकम धुँआ और लपलपाती लपटें! माता-पिता हक्के-बक्के बन बालकोंकी रक्षाके लिये करुण गुहार कर रहे थे—हाय-हाय करते हुए अश्रु बहा रहे थे। पर जीवन-मोह उन्हें मकानमें जानेसे रोके खड़ा था। इसी क्षण जीवनकी बाजी लगा, परोपकारी पड़ोसी कृष्णन मकानमें घुसे और बालकोंको वे सुरक्षित बाहर निकाल लाये। पर वे स्वयं आगसे बुरी तरह झुलस गये—और-तो-और, अपने पीछे वृद्धा माँ, पत्नी और दो अबोध बच्चोंको छोड़ वे इस संसारसे चल बसे!

परमार्थमें प्राण-विसर्जन करनेवाले इस महान् आत्माके निराश्रित परिवारके लिये कालीकटके एक प्रमुख पत्रने सहायताकी अपील जारी की और देखते-देखते बीस हजार रुपयेकी राशि एकत्रित हो गयी।

पत्रके संचालक जब यह धनराशि कृष्णनकी विधवा-को भेंट करने उनके घर पहुँचे तो उस विधवा पत्नीने विनम्रतापूर्वक उक्त राशि ग्रहण करनेसे इन्कार करते हुए टूटे तन और थके मनसे मात्र इतना ही कहा—

'वे इतने ही दिनोंके लिये आये थे और मानवीय कर्तव्य पूराकर चल दिये·······एक दिन हमें भी वहाँ जाना है; यदि मैं उनके कर्तव्यको इन रंगीन नोटोंके बदले बेच दूँ तो बताइये वहाँ क्या जवाब दूँगी—क्या जवाब दूँगी·······।' कहते-कहते उनकी आँखें भर आयीं और आँचलसे आँखें पोछती रुँधे गलेसे वह इतना ही कह पायी—'पुण्यसे हमें हाथ-पैर मिले हैं। रामका संबल थामे हम अपना जीवन जी लेंगे·······पड़ोसी, परिवारका आशियाना अग्निसात् हो गया। इस परिवारके लिये धरती ही बिस्तर व आसमान साया रह गया है। अतः मेरा आपसे यही निवेदन है कि यह धनराशि इस बेसाया परिवारको मकान बनवानेके लिये दे दी जावे।

वह बीस हजारकी धनराशि उस मुसलिम परिवार-को घर बनानेके लिये दे दी गयी।

(२)

आदर्श दान

जलसेवाके लिये अखिल भारतीय ख्याति-प्राप्त मेरे नगर भवानीमण्डी-(राज०) में कुछ वर्ष पूर्व घटी घटना है। हरिद्वारमें, भारत-माता-मन्दिरके निर्माता, भूतपूर्व शंकराचार्य भानपुरापीठ, श्रीस्वामी सत्यानन्द मित्र गिरिजीने चिन्तनकी इस मनोभूमिपर कि बालकोंमें अच्छे संस्कार जागें, उनका जीवन आदर्श बने, नगरमें एक गुरुकुलकी स्थापना तो कर दी, पर नन्हें मासूम बच्चोंके लिये नगरसे दो किलोमीटर दूर-स्थित गुरुकुलमें आने-जानेकी एक समस्या खड़ी हो गयी।

इस समस्याके समाधानहेतु श्रीचंदालालजी जैन, अध्यक्ष स्थान कवासी श्रीसंघ भवानीमण्डीके नेतृत्वमें गुरुकुल-प्रबन्धकारिणीके सदस्य, एक शिष्टमण्डलके परिवेशमें, स्थानीय सिटीजन बसके स्वामी, जनाब एहमद हुसेन साहबके पास पहुँचे और अपनी समस्या उनके सामने रखते हुए बालकोंको गुरुकुल लाने, ले जानेके लिये एक बस मासिक किरायेपर देनेका प्रस्ताव रखा। सहज भावसे सोफेपर आसीन बीड़ीके कश खींचते एवं धुंआके छल्ले हवामें तैराते हुए जनाब हुसेन साहबने शिष्ट मण्डलकी बात सहानुभूतिपूर्वक सुनी और फिर बीड़ीका टुकड़ा फेंकते हुए बोले—

'बच्चोंके लिये बस क़िरायेसे देना मेरे लिये मुमकिन नहीं, हरगिज मुमकिन नहीं। शिष्टमण्डलके सदस्योंकी पेशानियोंपर परेशानियाँ और निराशाकी सिलवटें उभर पड़ीं। जनाब एहमद साहब खामोशीसे सोफेपर बैठे यह सब कुछ बारीकीसे देखते रहे, अपने शब्दोंकी प्रतिक्रियाको परखते रहे और तभी चर्चाको नये आयाम, नयी दिशा देते, बड़े संजीयाना अंदाजमें कह उठे—

'भाई साहब! आपके बच्चे मेरे बच्चे—एक वालिद; अपने नन्हें मासूम मुन्नोंसे उनकी तालीमकी खातिर बसका किराया वसूल करें, यह मेरे लिये मुमकिन नहीं, हरगिज मुमकिन नहीं। बच्चोंके लिये मैं बस, इतना ही कर सकता हूँ कि अपनी बस ही गुरुकुलको भेंट किये देता हूँ।

ज्यों ही उन्होंने अपनी कीमती बस गुरुकुलको भेंट की, सदस्यगण प्रसन्न एवं अवाक् हो गये। और मौक़ेपर मौजूद चश्मदीद गवाहानका कहना था कि दरहकीकत, उन लहमोंमें मजहबफरस्तोंकी दीवारें धड़ामसे गिरकर जमींदोज हो गयी थीं। यही तो तस्वीर है अमनपसन्द मेरे मुल्ककी—यही तो असली तहजीब और तालीम है मेरे मुल्ककी कौमी एकताकी।

—राजेन्द्रप्रसाद जैन

(३)

हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्

(प्रभु-कृपाकी अद्भुत अनुभूति)

हमने कलकत्तेसे बंबईके लिये ता० १६ फरवरी ८५ को गीताञ्जलि एक्सप्रेस ट्रेनद्वारा प्रस्थान किया। रात्रिके लगभग २ बजे जब गाड़ी रायपुर स्टेशनपर रुकनेवाली ही थी कि हमारे ज्येष्ठ भाईकी तबियत सहसा खराब हो गयी। रोगने गम्भीर रूप धारण कर लिया। हम तुरंत उन्हें लेकर गाड़ीसे उतर गये।

रेलवेके डाक्टरने उन्हें सूई लगायी और तत्काल उन्हें अस्पताल ले जानेकी सलाह दी। डाक्टरके अनुसार एक पलकी देर भी जीवनको खतरेमें डाल सकती थी।

मैं मन-ही-मन भगवान्‌को स्मरण करते हुए स्टेशनके बाहरकी ओर गया। गेटपर एक संभ्रान्त युवक खड़े थे। उनसे मैंने अपनी व्यथा सुनायी। वे तुरंत हमें अपनी फियेटकारमें बैठाकर स्थानीय अस्पताल ले गये। अस्पतालमें भाईजीको उतारनेके बाद जब वे जाने लगे तो उन्हें धन्यवाद देते हुए मैंने नाम पूछा तो उन्होंने अपना नाम आनन्द अग्रवाल बताया और चले गये। उनका सौजन्य उल्लेख्य है।

इतनेमें ही अस्पतालके डॉक्टर पुजारी वहाँ आ गये और तुरंत भाई साहबके उपचारमें लग गये। किंतु 'टूटीकी कोई बूटी नहीं है'—यह बताते हुए डॉक्टर साहबने हमें सान्त्वना देते हुए अपने पास बिठाया और ऐसी आत्मीयतासे हमें सहयोग, धीरज एवं साहस दिया कि अब हमें यह महसूस होता है कि स्वयं आनन्दकन्द श्रीठाकुरजी ही आनन्द और पुजारीके रूपमें हम निःसहायको सहारा देने साक्षात् पधारे थे—

'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।'

अस्पतालसे मैं भगवान्‌को स्मरण करता हुआ टेलीफोन एक्सचेन्ज गया। उस समय रात्रिके करीब ३-३० बजे थे। उस समय ड्यूटीपर जो दो भाई साहब थे, जिनका नामतक पूछना मुझसे रह गया, उनकी तत्परता एवं कर्त्तव्य-निष्ठतासे ही मेरा कई स्थानोंपर फोनपर सम्पर्क सम्भव हो सका। उसके बादकी सारी व्यवस्था रायपुरके एक सम्भ्रान्त परिवारने जिस सरलता और अपनत्व-भावसे की, उसके स्मरणमात्रसे आँखें सहज ही सजल हो जाती हैं। ऐसी सहृदयता दैवी-सम्पत्ति है।

प्रसिद्ध है कि कलियुगमें भगवान् सहजमें मिलते हैं और स्मरणमात्रसे वे कृपाकर संकटोंसे उबार लेते हैं। इस तथ्यकी अनुभूतिका साक्षात्कार हमें रायपुरमें हुआ।

—कालीचरन केडिया

मनन करने योग्य

अन्नदोष

एक महात्मा राजगुरु थे। वे अक्सर राजमहलमें राजाको उपदेश करने जाया करते। एकदिन वे राजमहलमें गये। वहीं भोजन किया। दोपहरके समय अकेले लेटे हुए थे। पास ही राजाका एक मूल्यवान् मोतियोंका हार खूँटीपर टंगा था। हारकी तरफ महात्माकी नजर गयी और मनमें लोभ आ गया। महात्माजीने हार उतारकर झोलीमें डाल लिया। वे समयपर अपनी कुटियापर लौट आये। इधर हार न मिलनेपर खोज शुरू हुई। नौकरोंसे पूछ-ताछ होने लगी। महात्माजीपर तो संदेहका कोई कारण ही नहीं था। पर नौकरोंसे हारका पता भी कैसे लगता! वे बेचारे तो बिल्कुल अनजान थे। पूरे चौबीस घंटे बीत गये। तब महात्माजीका मनोविकार दूर हुआ। उन्हें अपने कृत्यपर पश्चात्ताप हुआ। वे तुरंत राजदरबारमें पहुँचे और राजाके सामने हार रखकर बोले—'कल इस हारको मैं चुराकर ले गया था, मेरी बुद्धि मारी गयी, मनमें लोभ आ गया। आज जब अपनी भूल मालूम हुई तो दौड़ा आया हूँ। मुझे सबसे अधिक दुःख इस बातका है कि चोर तो मैं था और यहाँ बेचारे निर्दोष नौकरोंपर बुरी तरह बीती होगी।'

राजाने हँसकर कहा—'महाराजजी! आप हार ले जायँ यह तो असम्भव बात है। मालूम होता है जिसने हार लिया, वह आपके पास पहुँचा होगा। और आप ठहरे दयालु, अतः उसे बचानेके लिये आप इस अपराधको अपने ऊपर ले रहे हैं।'

महात्माजीने बहुत समझाकर कहा—'राजन्! मैं झूठ नहीं बोलता। सचमुच हार मैं ही ले गया था। पर मेरी निःस्पृह निर्लोभ वृत्तिमें यह पाप कैसे आया, मैं कुछ निर्णय नहीं कर सका। आज सबेरेसे मुझे दस्त हो रहे हैं। अभी पाँचवीं बार होकर आया हूँ। मेरा ऐसा अनुमान है कि कल मैंने तुम्हारे यहाँ भोजन किया था, उससे मेरे निर्मल मनपर बुरा असर पड़ा है और आज जब दस्त होनेसे उस अन्नका अधिकांश भाग मेरे अंदरसे निकल गया है, तब मेरा मनोविकार मिटा है। तुम पता लगाकर बताओ—वह अन्न कैसा था और कहाँसे आया था?'

राजाने पता लगाया। भण्डारीने बतलाया कि 'एक चोरने बढ़िया चावलोंकी चोरी की थी। चोरको अदालतसे सजा हो गयी, परंतु फरियादी अपना माल लेनेके लिये हाजिर नहीं हुआ। इसलिये वह माल राज्यमें जप्त हो गया और वहाँसे खरीदकर राजमहलमें लाया गया। चावल बहुत ही बढ़िया थे। अतएव महात्माजीके लिये कल उन्हीं चावलोंकी खीर बनायी गयी थी।'

महात्माजीने कहा—'इसीलिये शास्त्रोंमें राज्यान्नका निषेध किया है। जैसे शारीरिक रोगोंके सूक्ष्म परमाणु फैलकर रोगका विस्तार करते हैं, इसी प्रकार सूक्ष्म मानसिक परमाणु भी अपना प्रभाव फैलाते हैं। चोरीके परमाणु चावलोंमें थे। उसीसे मेरा मन चंचल हुआ और भगवान्की कृपासे अतिसार हो जानेके कारण आज जब उनका अधिकांश मलद्वारसे निकल गया, तब मेरी बुद्धि शुद्ध हुई। आहार शुद्धिकी इसीलिये आवश्यकता है।

॥ श्रीहरिः ॥

विलम्बके लिये क्षमा-याचना एवं आवश्यक निवेदन

इस वर्ष 'कल्याण'के कुछ साधारण अङ्कोंको पाठकोंतक नियमित रूपसे पहुँचानेमें अप्रत्याशित विलम्ब हो गया। फलतः पाठक अपने धैर्यकी सीमा पारकर आज भी उपालम्भके पत्र भेज रहे हैं। यह स्वाभाविक है। किंतु अलग-अलग सबका उत्तर देना हमारे लिये सम्भव प्रतीत नहीं होता, अतः हम स्थितिको स्पष्ट करना उचित समझते हैं।

कभी-कभी कुछ ऐसी अप्रत्याशित परिस्थितियाँ और अपरिहार्य कारण सामने उपस्थित हो जाते हैं, जिनका निराकरण त्वरित सम्भव अथवा सरल नहीं होता। गीताप्रेसमें इस बार कर्मचारियोंकी अचानक हड़ताल हो गयी, जो १२ अप्रैलसे २४ मईतक लगभग डेढ़ मासतक चली। इस कारण कल्याणकी छपाई, प्रेषण एवं पत्रव्यवहार इत्यादि आवश्यक कार्योंमें अकस्मात् व्यवधान पड़ जानेसे सभी सेवा-व्यवस्थाएँ प्रायः ठप हो गयीं। यहाँतक कि मार्च-अप्रैलके साधारण अङ्क तैयार रहनेपर भी हम उनका प्रेषण अपने प्रिय पाठकोंतक यथासमय करनेमें समर्थ न हो सके। इसका हमें अत्यन्त खेद है। यह हमारी विवशता थी; इसका कोई विकल्प भी न था। इस विशेष हेतुसे उत्पन्न परिस्थितिका दूरगामी प्रभाव यह हुआ कि 'कल्याण'के आगामी अङ्कोंके क्रमशः प्रकाशन तथा प्रेषणमें भी अनावश्यक विलम्ब होता गया। फलस्वरूप पाठकोंको जो कष्ट और असुविधा हुई या हो रही है, उसके लिये हमारी विवशताको दृष्टिगत रखते हुए वे सभी महानुभाव कृपापूर्वक क्षमा करेंगे, यह प्रार्थना है।

स्थिति सामान्य तथा सानुकूल होते ही 'कल्याण'के गत मासोंके-(पिछड़े हुए) अङ्कोंका मुद्रण और प्रेषण शीघ्रातिशीघ्र करके अब उक्त अन्तरालको पूरा करनेका प्रयास किया जा रहा है। इस प्रक्रियामें अबतक तीन—(मार्च, अप्रैल, मई तकके) अङ्कोंका प्रेषण एक बारमें, एक साथ किया गया। पश्चात् जूनका अङ्क भी शीघ्र- (लगभग १५ दिनों बाद) ही भेजकर एवं पुनः जुलाई-अगस्तके अङ्कोंको भी यथाशीघ्र प्रेषित करके अकस्मात् अनिच्छा और परेच्छासे उत्पन्न गतिरोध जनित गत रिक्तताको भरनेका प्रयास किया जा रहा है। आशा है, 'कल्याण'प्रेमी सभी कृपालु पाठक आगामी अङ्कोंकी सधैर्य प्रतीक्षा करेंगे।

यद्यपि प्रायः सभी ग्राहकोंकी सेवामें इस वर्षका विशेषाङ्क-(मत्स्यपुराणाङ्क-उत्तरार्ध) कार्यालयसे यथा-शक्य सावधानीपूर्वक भेजा जा चुका है; तथापि भूलवश किन्हीं ग्राहक-सज्जनोंको यदि वह अभीतक न मिला हो तो वे कृपया तदर्थ अविलम्ब पत्र भेजकर उसे अवश्य मँगवा लें। हमारे यहाँसे मात्र कतिपय उन्हीं ग्राहकोंको नियमानुसार अबतक विशेषाङ्क नहीं भेजे जा सके हैं, जिनके वार्षिक-मूल्यमें चारसे अधिक रुपयोंकी कमी है अथवा कार्यालयसे उन्हें तदर्थ सूचित किये जानेपर भी जिन्होंने अभीतक मूल्य-पूर्ति भेजकर अपना विशेषाङ्क मँगानेका प्रयास ही नहीं किया है। ऐसे सभी महानुभावोंसे हमारा पुनः विनम्र अनुरोध है कि वे मूल्य-पूर्तिकी अपनी राशि अब शीघ्रातिशीघ्र भेजकर विशेषाङ्कसहित अपने रुके हुए अङ्क प्राप्त कर लें।

व्यवस्थापक—'कल्याण'

पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

नवीन प्रकाशन

गीता-माधुर्य

(लेखक—परमश्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

श्रीमद्भगवद्गीता साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी वाणी है। इसकी महिमा अपार है। यह मनुष्यमात्रका कल्याण करनेवाला सार्वभौम महान् ग्रन्थ है। जनसाधारणमें इसका अधिक-से-अधिक प्रचार हो, इस दृष्टिसे परमश्रद्धेय स्वामीजी महाराजने इस ग्रन्थको प्रश्नोत्तरकी शैलीमें बड़े सुन्दर ढंगसे प्रस्तुत किया है, जिससे गीता पढ़नेमें सर्वसाधारण लोगोंकी रुचि पैदा हो जाय और वे इसके अर्थ तथा रहस्यको सरलतासे समझ सकें।

पाठकोंसे मेरा नम्र निवेदन है कि वे इस पुस्तकको स्वयं पढ़ें और अपने मित्रों तथा सगे-सम्बन्धी आदिको भी पढ़नेके लिये प्रेरित करें। मूल्य रु० ३.५० (तीन रुपये पचास पैसे) —व्यवस्थापक

पुनर्मुद्रण

भगवच्चर्चा (भाग २)

(लेखक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

(नैवेद्य)

२८ लेख और कविताओंका सुन्दर ग्रन्थ

इस ग्रन्थका अभी पुनर्मुद्रण हुआ है। इसमें प्रार्थना, चेतावनी, गीता-सत्संग, साधना आदि कई विषयोंपर सभी स्त्री-पुरुषोंके पढ़ने योग्य लेख हैं। यह ग्रन्थ आध्यात्मिक पथके पथिकोंके लिये अत्यन्त उपयोगी और उपादेय है। मूल्य २.५० (दो रुपये पचास पैसे)।

भगवच्चर्चा (भाग ३)

(लेखक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

इस पुस्तकमें श्रीभाईजीके ५० लेखोंका संग्रह है। इस संग्रहमें ध्यानके लिये भगवान्के विचित्र स्वरूपोंका सुन्दर वर्णन है तथा ध्यानकी विधि बतलायी गयी है। अवतार-तत्त्व, सगुण-निर्गुण-तत्त्व, भाव-राज्यकी महिमा, पुरुषोत्तम-तत्त्व आदि गम्भीर विषयोंके साथ भक्तके लक्षण, भगवत्प्राप्तिके उपाय, गृहस्थोंके लिये साधारण नियम, भगवान्को सुहृद् समझते ही मुक्ति इत्यादि विषय एवं भगवान् श्रीकृष्णकी अटपटी दीखनेवाली लीलाओंका रहस्य भी बड़े मधुर ढंगसे प्रकाशित किया गया है। यह पुस्तक पंद्रह वर्षों बाद पुनः प्रकाशित हुई है। सभी सज्जन इसे पढ़कर लाभ उठायें। मूल्य रु० ४.०० (चार रुपये)।

गीता शांकरभाष्यसहित, सानुवाद	...	१२.००	श्रीप्रेमसुधासागर	... ...	१०.००
गीता गुजराती	... ...	६.००	ईशादि नौ उपनिषद् सजिल्द, सटीक	...	६.००
गीता मराठी	... ...	६.००	ईशावास्योपनिषद् शांकरभाष्य, सटीक	...	०.६०
गीता मूल मोटा टाइप	... ...	१.७५	केनोपनिषद् शांकरभाष्य, सटीक	...	२.००
गीता पञ्चरत्न	... ...	१.५०	कठोपनिषद् ,, ,,	...	२.५०
अध्यात्मरामायण सटीक	...	१०.००	माण्डूक्योपनिषद् गौडपादकारिका-शांकरभाष्य सटीक	... ...	५.५०
श्रीविष्णुपुराण ,,	... ...	१५.००	तैत्तिरीयोपनिषद् शांकरभाष्य सटीक	...	३.००

इनके अतिरिक्त और भी बहुत पुस्तकें उपलब्ध हैं। विशेष जानकारीके लिये सूचीपत्र मँगानेकी कृपा करें।